UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186272

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Libra

Call No H370.7 S56G

Accession No H2273

Author शुक्ल, बलदेवप्रसाद

Title गुजन का अनुशीलन

This book should be returned on or before th
marked below.

गुंजन का अनुशीलन

(व्याख्या भाग)

बलदेवप्रसाद शुक्ल
साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ

प्रकाशक
हिन्दी-भवन
जालन्धर और इलाहाबाद

मूल्य ३)

प्रकाशक—
इंद्रचंद्र नारंग
हिन्दी-भवन
३१२ रानी मंडी
इलाहाबाद ३

CHECKED 1956

Checked 1965

मुद्रक—
इन्द्रचन्द्र नारंग
हिन्दी भवन मुद्रणालय
३१२ रानी मंडी
इलाहाबाद

गुंजन का अनुशीलन

गुंजन

वन-वन उपवन—

शब्दार्थ—**उन्मन** = आकुलता पूर्ण, बेचैन। **मधु का वन** = वसन्त का खिला हुआ वन; फूलों की मादकता से पूर्ण वसन्त ऋतु का वन। **प्राणों के अलि करते स्पन्दन** = कवि रूपी भ्रमर के मन में भावों का स्फुरण होता है। वह प्रकृति के साथ संवेदनशील हो कर गीत गुनगुनाने लगता है। **मुकुल** = कली। **मदिर** = मादक। **मलय** = दक्षिण भारत में स्थित पर्वत जहाँ चन्दन के पेड़ बहुत होते हैं। वसन्त-काल में दक्षिण से आते हुए शीतल मन्द और सुगन्ध पवन को कवि मलय से आता हुआ मान कर उसे वहाँ के चन्दन और अन्य पौधों की गन्ध से भरा हुआ चित्रित करते हैं। वे इस पवन को प्रेम की पीडा से व्यथित हृदय के ऊपर विशेष रूप से प्रभाव डालनेवाला कहा कहते हैं।

व्याख्या—(**वसन्त के आने से**) प्रत्येक वन और उपवन में फूल खिलने लगे। उनकी मादक गन्ध से आकृष्ट हो कर मतवाले हुए) उठते यौवन के भ्रमरों की आकुलताभरी गूँज से भर गये। (उनका आकुल गुंजन वहाँ छाया हुआ है।)

(क्रम क्रम से वसन्त का विकास होने लगा) पहले चाँदी की सी श्वेत (और फिर) सोने की सी पीली आम की बौरें (मंजरियाँ) खिल उठीं। उनकी गन्ध (की मादकता) से खिंच कर मदमाते (एवं) अत्यन्त अधिक (अथवा, मन में सञ्चित बहुत दिनों की) आकुलता से पूर्ण रङ्ग-रङ्ग के—नीले, पीले, नन्हे-बड़े—भौरें झुण्ड के झुण्ड जहाँ-तहाँ उड़ते हुए वसन्त की मादकता से परिपूर्ण वन में गूँज रहे हैं।

(आगे वसन्त की श्री की वृद्धि होने पर आम के अतिरिक्त) वन के दूसरे पेड़ों की डाली-डाली कोमल कलियों से (लद जाने से) लाल हो गयी। (इस प्रकार वनप्रान्त में व्याप्त लालिमा) नये (आरम्भकालीन) वसन्त की सुन्दरता की ज्वाला (चतुर्दिक) फैल रही है। (उस रूप की ज्वाला में) जल-जल कर प्राणों के आकुल भ्रमर स्पन्दन करते हैं, गुञ्जार करते हैं। (अर्थात् वासन्ती सुषमा को देख कर कवि के मन में आकुलता होती है। प्रकृति के रूप से प्रभावित हो उसके मन में भाव उठते हैं। वह अपने गीत गुनगुनाने लगता है।)

अब (वसन्त का पूर्ण यौवन आ जाने से लाल-लाल कोमल कलियों से भरे वन के) सारे फूल खिल उठे। कलियों के भीतर सञ्चित मादकता-पूर्ण सुगंध अब स्थिर न रह सकी। (कलियों के खिलने के साथ ही उनके भीतर की सुवास फैलने के लिए चञ्चल हुई।) मलयगिरि की साँस (अर्थात् दक्षिण से आने वाली शीतल और मन्द हवा) सुगन्ध से (परिपूर्ण हो कर) चलने लगी। (इस मदभरे काल में) प्राणों के आकुल मधुप जीवन का मधु एकत्र करने के लिए गुञ्जार कर उठे। (अर्थात् प्रकृति को ऐसी मत्त-कारिणी शोभा को देख कर कवि के मन में उसके प्रति आकर्षण हुआ। वह उससे अपने जीवन के लिए मधुरता को संचित करने के लिए आकुल हो उठा। फलतः उसके हृदय के उद्गार कविता (अथवा गीत) के रूप में निकल पड़े (जो इस सङ्कलन—गुञ्जन—के नाम से प्रकट हुए।)

द्रष्टव्य—इस गीत में कवि ने वसन्त से प्रेरित हो मन के भावों को

व्यक्त करने की आकुलता प्रदर्शित की है। जैसे वसन्तागम में झुण्ड के झुण्ड भौंरे गूँजने लगते हैं वैसे ही मानो कविता-कानन में नवीन काल आया है। तब नये कवियों की गीत-ध्वनि चतुर्दिक सुन पड़ने लगी—हिन्दी कविता के क्षेत्र में नवयुग का आगमन हुआ—नये खेवे के—छायावादी—कवियों में भावोद्रेक हुआ। वे नये गान गाने लगे। यह सङ्केत भी इस गीत में मिलता है। इसे कवि की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति मानें तो इसका संकेत यह होगा कि कवि 'गुञ्जन' के रचना-काल के पूर्व के अपने विषाद एवं अवसाद से पूर्ण जीवन के समाप्त होने पर उल्लास की अनुभूति करने लगा था। अब आनन्द की प्रेरणा से उत्पन्न भाव उसके मन में समा नहीं सकते थे। उनको व्यक्त करने के लिए वह छटपटाने लगा। जैसे वन में पहले रक्ताभ कलियाँ दिखलायी पड़ीं, फिर उनके भीतर बन्द सौरभ बाहर आने के लिए व्याकुल हुआ और फूल खिलते ही वह दिग्दिगन्त में फैल गया, वैसे ही कवि के प्रसन्न-मन की भावावलि गीत के रूप में प्रकट हो कर अपना प्रसार करने लगी।

इस गीत में वसन्त का प्रादुर्भाव, विकास और पूर्णत्व क्रमशः पहले दूसरे तथा तीसरे छन्द में चित्रित हुआ है। साथ ही इसकी शब्दावलि में प्रतिध्वन्यात्मकता है। उसमें भौंरों के गुञ्जन की ध्वनि मिलती है।

[१] तप रे मधुर मधुर मन

शब्दार्थ—**मधुर** = प्रिय, रुचिकर, सुन्दर, कोमल। **मधुर मधुर तप** = तपना, आँच में जलना अच्छा नहीं लगता, किन्तु यहाँ मन को शुद्ध करने के लिए तपना स्वतः प्रेरित और रुचिकर होने से प्रिय है। इसी से तप को मधुर कहा गया है। अथवा हे कोमल मन, तू तप। **अकलुष** = निष्कलङ्क, कल्मष-रहित, शुद्ध। **विधुर विधुर** = दुःखी, व्यथित; आकुल, उत्तेजित। **सजल स्वर्ण** = पिघला सोना; सुवर्ण सदृश शुद्ध द्रवित मन। **आतुर मन** = (विश्व प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त, उत्सुक, व्याकुल, अधीर मन।

सूचना—इस गीत में कवि के जीवन में नवीन भावोदय की सूचना

मिलती है। वह अब से पूर्व की रचनाओं में अपने मन के सुख-दुःख और हर्ष-विषाद को व्यक्त करता था। अब उसका मन औरों के (विश्व के) सुख-दुःख और हर्ष-विषाद का अनुभव करने लगा। उसने यह नयी दृष्टि पायी कि जगत के प्राणियों की वेदना के अनुभव से मन का संकुचित रूप और उसके भीतर छिपा ओछापन दूर होता है एवं वह विशाल तथा उदार हो जाता है। इस प्रकार उसका नव-निर्माण होता है। यही बात वह सोने के तप कर नयी मूर्ति के रूप में निर्मित होने के रूपक के द्वारा सुन्दर ढंग से कहता है।

व्याख्या—(कवि अथवा विश्वप्रेमी कहता है—) हे मेरे मन तू मधुर मधुर तप। (मीठी तपन का अनुभव कर। अथवा, हे मेरे कोमल कोमल मन, तू तप।) जीवन के प्रत्येक क्षण में तू संसार (के प्राणियों) की पीडा (की संवेदना रूपी आँच) में जल। जगत् (के जीव मात्र के दुःखों) के जीवन (की अनुभूति की आग) की लपटों में पिघल (अर्थात् अपनी कठोरता को दूसरे के क्लेशों के अनुभव के ताप में गला दे और पर-दुःख कातर हो कर द्रवित हो एवं उनके शोक को अपना शोक अनुभव कर। इस प्रकार आँच में तपे सोने के समान अपने समस्त दोषों को दूर करके) शुद्ध, स्वच्छ और कोमल हो जा। हे (विश्व-प्रेम की अनुभूति से) आकुल मन, तू तप।

(जब सुवर्ण पिघल कर शुद्ध और कोमल हो जायगा तब उससे मनचाही मूर्त्ति गढ़ी जा सकेगी। ऐसे ही, कठोरता से रहित मन के शुद्ध और कोमल हो जाने पर उसका सुन्दर रूप हो जायगा। तब, हे मन) तू अपने द्रवित स्वर्ण (सुष्ठु वर्ण—

अच्छे अक्षर वा रङ्ग-रूप) से जीवन की सब प्रकार से पूर्ण पवित्र मूर्त्ति का निर्माण कर (अर्थात् परदुःख-कातर हो कर तू जीवन का पवित्र और सर्वाङ्गीण कविता का रूप अपनी संवेदनशील लेखनी से बना । इस प्रकार एकाङ्गी अथवा अकेलेपन का जीवन भावना के द्वारा विशाल और व्यापक बना कर तू समस्त) जगत् (के प्राणियों) से ममत्व को दृढता (अथवा पुष्टता) के साथ स्थापित कर । हे मेरे अधीर मन, तू ढल (द्रवित हो, अथवा विश्वप्रेम की ओर प्रवृत्त हो), तू ढल । (अपनी कठोरता छोड़ कर पिघल जा, इस प्रकार पिघलने द्रवित होने—पर ही तू नवीन भाव —सार्वजनीन प्रेम—से युक्त हो कर जीवन की नवीन मूर्त्ति का निर्माण कर सकेगा ।)

(अपने इस एकाङ्गीपन से इस ढङ्ग से तेरा यह कलुषित पदार्थों से) प्रिय छुटकारा ही (विश्व के प्रेम का) बन्धन है । (जिसमें अपने को बाँध कर तू जो अब तक) गन्ध से रहित (था, अब अपना वह निराकार वा निर्लिप्त रूप त्याग दे और वैसा) न रह कर गन्ध से युक्त हो जा । (अर्थात् विश्व के प्रेम की सुगन्ध अपने में भर ले और उसे ही सर्वत्र फैला । अभिप्राय यह कि तू अपना शुष्क, नीरस अपने में ही मग्न रहने वाला, अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को व्यक्त करने का स्वभाव छोड़ कर सरस बन और ऐसी कविता कर जिसमें विश्वप्रेम की अभिव्यक्ति हो ।) (तपने, गलने और मूर्त्ति के रूप में परिणत किये जाने के पहले सोने के सदृश) हे मन, तू अभी तक किसी निश्चित रूप का न था । (अब तू वैसा ही न बना रह, प्रत्युत उस

अरूपता में) स्व (अपना, वास्तविक और पूर्ण) रूप भर दे। कवि का अपनी ओर संकेत है कि तूने अब तक जीवन का कोई निर्धारित रूप अपने काव्य में नहीं ग्रहण किया था, अब तू विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित करके अपना सच्चा कवि रूप प्रदर्शित कर, जिसमें आत्माभिव्यक्ति न हो कर विश्वप्रेम का प्रकाशन हो। ऐसा करके तू निर्धन से मूर्त्तिमान हो जा। (सोना जब तक आँच में तप कर शुद्ध नहीं होता तब तक उसका पूरा मूल्य नहीं आँका जा सकता। शुद्ध हो कर मूर्त्ति के रूप में परिवर्तित होने पर ही उसका वास्तविक मूल्य प्रकट होता है। पहले वह किसी काम का नहीं होता, अब वह सब का पूज्य बन जाता है। ऐसे ही, अपने मन के भावों को प्रकट करने में मग्न कवि की रचना का दूसरों के लिए कोई भी मूल्य नहीं, किन्तु जब उसमें संसार के समस्त प्राणियों के भाव मिलते हैं तब वह सबके द्वारा आदर पाती है। यहाँ यह भी आशय हो सकता है कि कवि अब तक किसी स्थिर लक्ष्य को ले कर कविता नहीं करता था। अब वह अपने काव्य का उद्देश्य-निर्धारण करता है। इस प्रकार अपने अरूप को स्वरूप (अपना अथवा प्रत्यक्ष मूर्त्त-रूप) देता है। (अतएव) हे (लोक-संवेदना से विहीन) मेरे मन, तू पिघल—द्रवित हो।

द्रष्टव्य—इस गीत में मन को स्वर्ण (= सुन्दर अर्ण अर्थात् वर्ण—अक्षर और रङ्ग—) बनाने का रूपक बहुत ही सुन्दर रूप में अङ्कित किया गया है। मधुर मधुर तप और मधुर मुक्ति ही बन्धन में विरोधाभास है। मधुर मधुर, विधुर विधुर, ढल रे ढल, गल रे गल में पुनरुक्ति-प्रकाश है।

[२] शांत सरोवर का उर

***शब्दार्थ*—सोये वीणा के सुर**—वीणा के तार जब तक झंकृत नहीं होते तब तक मानो उसका स्वर सोता रहता, अचेतन दशा में रहता है। **उत्कण्ठातुर**=जिज्ञासा—जानने की प्रबल इच्छा—से अधीर, आकुल, बेचैन। **चराचर**=संसार के चर और अचर (स्थावर-जङ्गम) प्राणी और पदार्थ। **मौन-मुग्ध**=शान्त, चुप और मोहित।

संकेत—इस गीत में विविध निर्जीव पदार्थों को सजीवता प्रदान करके, उनके मानवीकरण के द्वारा कवि संसार के प्रति जिज्ञासु के रूप में प्रकट होता है। वह जानना चाहता है कि

व्याख्या—शान्त स्थिर सरोवर के हृदय में कौन सी इच्छा उत्पन्न होती है जिससे वह लहरा कर (उमङ्ग से भर कर) चंचल हो उठता (धड़कने लगता) है? (अर्थात् जिस तालाब के जल में कुछ काल पहले तक स्थिरता थी वह किस छिपी हुई शक्ति की प्रेरणा से एकाएक एक के बाद एक उठनेवाली लहरों के द्वारा अपने मन की विविध इच्छाएँ प्रकट करने लगा?

वीणा (के निष्पन्द तारों) के (भीतर) प्रसुप्त स्वर (वादक की अंगुलियों के) प्रिय स्पर्श के होने से प्रति क्षण क्यों मर मर ध्वनि करते हुए बज उठते हैं? (अर्थात् वीणा के सुप्त—शान्त—तारों के भीतर जैसे उनका सङ्गीत छिपा रहता है। उन तारों को ज्योंही बजानेवाले की उँगलियाँ छूती हैं त्योंही क्षण-क्षण में वह सङ्गीत फूट पड़ता है। इस छूने में क्या बात है जिससे वीणा के स्वर बोलने लगते हैं?—कवि पूछता है)

(अब आशा को अंकुर का और उसकी पंखुड़ियों को पत्तियों के पङ्खों का रूप दे कर कवि पूछता है—) आशा के छोटे से अंकुर

किस सुख के द्वारा (अपने) पङ्खों को फड़फड़ाते हुए एक के बाद दूसरी नयी पंखुड़ी फैलाते जाते हैं ? (अर्थात् पक्षी के बन्द पङ्ख जैसे खुलते ही फड़फड़ाने लगते हैं वैसे ही अँखुए के बन्द दल एक एक करके निकल कर फैल जाते हैं । इसी प्रकार आशा के प्रकट होते ही उसके रूप का विस्तार होने लगता है। आशा के नये नये रूपों का विस्तार उसको किस सुख के मिलने से होता है ?—यह जानने की इच्छा कवि को होती है।)

(फिर कवि मानव-हृदय की सहृदयता का कारण पूछता है कि) मनुष्य का कठोर मन (जिसमें कोई कोमल भावना नहीं जान पड़ती) अचानक (किसके प्रभाव से द्रवित हो कर) आँसू की झड़ी (के रूप) में पिघल-पिघल कर गल जाता है—(कठोर हिम जैसा हृदय किस संवेदना की आँच के लगने से पिघल कर आँसू के रूप में बहने लगता है ? और फिर वह अपनी कठोरता के स्थान में सहृदयता से पूर्ण सहज संवेदनशील हो जाता है ?)

(अन्त में कवि खुल कर कहता है कि) मैं बहुत समय से (अथवा दीर्घ उत्कण्ठा से) यह जानने के लिए उद्विग्न (उतावला वा अधीर) हो रहा हूँ कि संसार के सभी चेतन (प्राणी) और जड (पदार्थ) किस (शक्ति वा व्यक्ति) के बूते इस प्रकार चुप मोहित (जैसे चल रहे) हैं ?

द्रष्टव्य—इस गीत में मानवीकरण के द्वारा कवि ने सरोवर, वीणा और अंकुर को चेतना प्रदान करके उनमें उन मानवोचित व्यापारों का आरोप किया है जिनका वर्णन ऊपर व्याख्या में यथास्थान किया गया है।

अलङ्कार—इसके तीसरे छन्द में अङ्कुर और पक्षी का एवं चौथे में कठोर हिम का रूपक दर्शनीय है। चञ्चल चञ्चल, प्रतिपल प्रतिपल आदि में वीप्सा अलङ्कार है।

[३] आते कैसे सूने पल

शब्दार्थ—**विशृंखल**=शृङ्खलाविहीन, असम्बद्ध। **सृति**=पथ, मार्ग।

संकेत—इस गीत में कवि जीवन का सच्चा लक्ष्य निर्धारित करता है। सांसारिक भोगों की बढ़ती हुई अभिलाषा में निरन्तर डूबा हुआ मन कभी सुख नहीं पाता। चिरन्तन वृद्धि के अन्त में जो कुछ मिलेगा उससे ही सुख मिलेगा यह विचार ठीक नहीं। इसी प्रकार जीवन के नित्य प्रवहमान रूप से जीवन की नित्य प्रति की वस्तुओं से मन हटाना भी सुख-प्राप्ति का साधन नहीं। भौतिकता और विरक्ति दोनों की अति भली नहीं। मध्यम मार्ग से चलना सुखद होगा। यही बात नदी के रूपक के द्वारा कवि कहता है। पहले अपने जीवन के उन अवसरों के आने का कारण जानना चाहता है जिनमें वह सूनेपन का अनुभव करता हुआ चिन्तनशील होता है। फिर वह जीवन के आदर्श के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करता है।

व्याख्या—**(कवि अपने आप से पूछता है कि) जीवन में (कभी-कभी मन सब बातों से हट कर एकाकीपन का अनुभव करता है, जिससे उसमें) ऐसे क्षण आ जाते हैं जिनमें मैं सब से अलग, अकेला होने का अनुभव करता हूँ ? कैसे (यह होता है ? किस प्रकार मन के लिए) ये शून्य (एकान्त—सब से अलग और अपने में ही लीन होने की दशा उत्पन्न करने वाले) क्षण आते हैं जिस समय तिनके, पेड़, भूमि, आकाश सब एक-दूसरे से असम्बद्ध जान पड़ते हैं—ऐसा लगता है जैसे**

इनमें परस्पर कोई भी लगाव नहीं।

(उस समय मन की उदासीनता—विरक्ति—की स्थिति में) हृदय की वीणा से आनन्दोल्लास-पूर्ण जीवन के स्वर नहीं निकलते, (हृदय में आनन्द के भाव नहीं उठते। प्रत्युत उस हृदय-वीणा के) साँस के तारों (साँस ही जिसके तार हैं) में केवल (जीवन की विगत सभी बातों की) स्मृति सोती रहती है (वीणा के तार प्रसुप्तावस्था में रहते हैं, उनमें अतीत की समस्त स्मृति विलीन रहती है; अर्थात् सुप्तावस्था की साँसों के समान ही साँस चलती रहती है, हृदय में कोई भाव वा मन में कोई विचार उठते ही नहीं—हृदय वा मन पूर्णरूप से निष्क्रिय हो जाता है। यह एकान्त निश्चेष्टता किस प्रकार उत्पन्न होती है ?)

(इस प्रकार मन के एकाग्र होने पर कवि जीवन के सुख के सम्बन्ध में विचार करता हुआ कहता है कि (नदी समझती है कि मेरा चरम सुख अपने को समुद्र में मिला देने की चेष्टा में सफलता प्राप्त करने में ही है, किन्तु ऐसा समझने के कारण उसके) प्रवाह का (जो अपना) सुख (है, उसकी) लहरों के कल-कल नाद और (उनके) नाचने का (जो स्वतः) सुख (है वह) बह जाता है—नष्ट हो जाता है। (इसी प्रकार) उन्नति करने की अत्यधिक इच्छा में (जो भौतिक पदार्थों की प्राप्ति से जो सुख समझा जाता है, वही सब कुछ नहीं है, किन्तु उन्नति की प्रगति के मार्ग में भी सुख है इस बात को भूल जाने से) जीवन से जीवन चला जाता है (वास्तव में जीवन जीवन नहीं रह जाता।) तात्पर्य यह कि नदी के

प्रवाह, उसकी लहरों के कलनाद एवं उनके एक दूसरे से टकरा कर नाचने में भी आनन्द है, केवल अपने लक्ष्य समुद्र-मिलन की प्राप्ति में ही उसकी सार्थकता नहीं है । इसी प्रकार मनुष्य के नित्य प्रति के कार्यों और व्यापारों में भी सुख है, केवल उच्चाकांक्षाओं की पूर्ति में ही सच्चा सुख निहित नहीं।

(साधारणतया अचेतन मानी गयी) नदी (वास्तव में चेतनायुक्त है। इसी से उस) के भी (जीवन, अनुभूति एवं चेतना का बोध कराने वाला) आत्मा है । (इसी से) नदी नदी है, (उसका) जल जल है, (उसकी) लहर लहर है, (उसकी) गति गति है, (उसके बहने का नियत) पथ पथ है, और वह सदैव (जल से) भरी रहती है। अभिप्राय यह कि नदी निर्जीव नहीं, सजीव है। तभी न उसमें सजीवता के सभी लक्षण मिलते हैं—वह बहती रहती है, उसके जल में जीवन देने की शक्ति है, उसकी लहरों में चञ्चलता और आगे बढ़ने की क्षमता है, उसमें चलने का सामर्थ्य है और उसका अपना मार्ग भी है। उसमें चेतना न होती तो जीवन के ये प्रमाण उसमें दिखलायी न पड़ते।

(तो) क्या (इस प्रकार चेतनापूर्ण) नदी का जीवन यही है कि वह अपने गरजते हुए वा उमड़ते हुए पानी को (ले जा कर समुद्र में) उँडेल दे और बस ? (और क्या वह फूलों से खिले अपने किनारों के (साथ) खेलने और (अपने आलिङ्गन से उन तटों के) लजा जाने से कुछ भी ग्रहण न करे ? अर्थात् क्या नदी का एकमात्र लक्ष्य यह हो कि वह हहराती हुई—उमङ्ग से भरे

कलनाद के साथ—समुद्र में जा कर अपने को मिला दे और फूलों से भरे, बिहँसते हुए अपने किनारों के साथ खेलने, लुकने-छिपने और उन्हें भेंट कर लज्जित-सा करने में सुख का कुछ भी अनुभव न करे ?

(इस जिज्ञासा का उत्तर देते हुए कवि कहता है कि जैसे नदी के) सागर से समागम होने में सुख है, वैसे ही उसके जीवन (जल) की चाल—उसके प्रवाह—में भी (सङ्गीत, स्वर और ताल के ठीक रूप से निर्वाह की) लय है। (समुद्र से मिलने में उल्लास की ध्वनि है तो प्रवाह में भी सङ्गीत है, मधुर लय है—चरमोद्देश्य की पूर्ति के समान ही नित्य के जीवन-क्रम की बातों में भी सुख है। (इस प्रकार अपने जीवन का सिद्धान्त स्थिर करने के अनन्तर कवि अभिलाष प्रकट करता है कि (जीवन का अन्तिम लक्ष्य ही मेरा साध्य न हो, किन्तु उसके) प्रत्येक क्षण के अल्पांश (भी) जीवन की (मधुर, आनन्दमयी) लय से माधुर्यपूर्ण हो जायँ। अर्थात् मैं जीवन के नित्य के छोटे से छोटे कार्य में आनन्द का अनुभव करूँ।

द्रष्टव्य—इस गीत में नदी का मानवीकरण तथा जीवन के लिए वीणा और नदी के सुन्दर रूपकों का प्रयोग हुआ है।

[४] मैं नहीं चाहता चिर सुख

शब्दार्थ—**मिचौनी** = (कवि स्वातन्त्र्य से) आँखमिचौनी (का पूर्वार्द्ध छोड़ कर नितान्त नये ढङ्ग से प्रयुक्त शब्द); एक प्रकार का बच्चों का खेल, जिसमें एक हाथों से अपनी आँखें मूँद लेता है, शेष इधर-उधर छिप जाते हैं और तब सब के छिप जाने का सङ्केत कोई

एक प्रायः कूक के द्वारा देता है। तब वह आँखें खोल कर उनको ढूँढता है। छिपे बच्चे दौड़ कर पाला (नियत स्थान) छूते हैं। जिस किसी को वह छू लेता है वही चोर हो जाता है। फिर वह आँखें मूँदता है। इस प्रकार पूर्ववत् खेल चलता है। यहाँ सुख-दुःख की आँखमिचौनी (लुका-छिपी) का अभिप्राय है कभी सुख का आना, फिर न रहना और दुःख का आना तथा जाना।

सङ्केत—इसके पूर्व के गीत में 'अति-इच्छा' को सुख का सच्चा साधन न मान कर कवि ने सामञ्जस्य-पूर्ण जीवन को अपनाया है। इस गीत में वह खुल कर और भी कहता है। जीवन में सुख और दुःख दोनों की आवश्यकता है। दोनों की अति बुरी है। सुख के बिना दुःख और दुःख के बिना सुख का ठीक-ठीक अनुभव नहीं हो सकता। इसी से दोनों की आवश्यकता है। कवि भी चाहता है कि न तो निरन्तर दुःख ही दुःख मिले कि मनुष्य उसी में डूब जाय और जीवन का रस ही खो बैठे, और न सदैव सुख ही सुख रहे, जिसमें मनुष्य को उसकी अनुभूति-जन्य आनन्द का बोध ही न रह सके।

व्याख्या—(सब की इच्छा होती है कि सदा सुख ही रहे और दुःख कभी भी न मिले। किन्तु कवि मानता है कि सदैव सुख से पूर्ण और दुःख से नितान्त रहित जीवन में वास्तविक आनन्द नहीं। इसी से वह अपना मत यों व्यक्त करता है—) मैं सदा (स्थायी रूप से) सुख की इच्छा नहीं करता (और) न चिरन्तन दुःख (ही दुःख) का अभिलाष करता हूँ। (मेरी कामना तो यह है कि) जीवन सुख और दुःख की लुकाछिपी खेलता हुआ अपना मुँह खोले, अर्थात् कभी सुख प्रकट हो और फिर वह कुछ समय के लिए न रहे। तब दुःख आ जाय और कुछ काल तक अपना प्रभाव दिखला कर वह भी दूर हो जाय। इस प्रकार सुख और

दुःख दोनों आयें और जायँ । यही मेरे काव्य और जीवन की अभिव्यक्ति हो।

(केवल सुख अथवा एकमात्र दुःख के रहने से जीवन अधूरा, अपूर्ण रहेगा। ऐसा एकाङ्गी जीवन मुझे न चाहिये। मेरी इच्छा तो यह है कि) सुख और दुःख (दोनों) के (मन को) प्यारे सम्मिलन से (मेरा) यह जीवन पूर्ण हो (प्यारा मिलन इस लिए कि जीवन के लिए दोनों का प्रयोजन है। एक के बिना दूसरे का ठीक अनुभव ही नहीं हो सकता। इससे दोनों एक-दूसरे के विरोधी नहीं, अपितु पूरक हैं। अतः जीवन में कभी सुख दिखलायी पड़े और वह प्रकाशमान लगे। फिर वह न रहे और दुःख आ जाय, जिससे जीवन अन्धकारमय हो जाय। पीछे वह भी न रहे और सुख का प्रकाश पुनः प्रकट हो जाय। इसी बात को प्रतीक के द्वारा कवि कहता है कि) बादलों में चाँद छिप जाय (और संसार चाँदनी में हँसता हुआ न रह कर अँधियारी से भर कर उदास हो जाय। परन्तु शीघ्र ही बादलों के हट जाने पर) चन्द्रमा (के निकल आने) से बादल आँख की ओट हो जाय (और चाँदनी छिटक पड़े।)

(अपने इस सुख-दुःख से समन्वित जीवन के सिद्धान्त का औचित्य बतलाते हुए कवि कहता है कि यह) संसार अत्यधिक दुःख (होने) से कष्ट पा रहा है। (इसी प्रकार यह) जगत् अत्यधिक सुख से भी (सुखी नहीं, प्रत्युत) दुःखी (ही) है (जहाँ दुःख प्रयोजन से अधिक मात्रा में है वहाँ भी लोग पीडित हैं और जहाँ सुख की अत्यन्त अधिकता है वहाँ भी लोग सचमुच

सुखी नहीं, दुःखी ही हैं। इससे अच्छा तो यह है कि) मानवों के संसार में दुःख (ही दुःख न रहे, किन्तु वह) सुख से बँट जाय और सुख (भी निरन्तर न रहे किन्तु वह) दुःख से बँट जाय। अर्थात् दुःख और सुख दोनों का सामञ्जस्य हो जाय— केवल कोई एक सतत न रहे।

(इसका कारण यह है कि) निरन्तर (टिका हुआ) दुःख सतानेवाला है; (वैसे ही) सदैव बना हुआ (स्थायी) सुख भी सताने वाला है। (लगातार दुःख और सुख दोनों से ही वेदना होती है। वस्तुस्थिति तो यह है कि) संसार (के प्राणियों) का जीवन दुःख की रात में सोता और सुख के दिन में जागता है (अर्थात् संसार के लोग दुःख में आत्मविस्मृत और सुख में क्रियाशील रहते हैं। जैसे रात में सो जाने पर निश्चेष्ट होते हैं वैसे ही दुःख में निष्क्रिय हो जाते हैं। जिस प्रकार दिन होने पर निद्रा त्याग कर कर्मरत हो जाते हैं उसी प्रकार सुख के समय उत्साहपूर्ण तथा कार्य-संलग्न होते हैं। इस प्रकार, संसार में दुःख और सुख का क्रम निरन्तर चलता रहता है। यही विश्व का विधान है। यहाँ न केवल दुःख है और न एकमात्र सुख। दोनों साथ-साथ रहते हैं, आते-जाते हैं। यदि ऐसा न होता और दोनों अकेले-अकेले ही स्थायी रूप से रहते तो जीवन दूभर हो जाता।)

(इसी बात को फिर दूसरे प्रतीकों के द्वारा कवि व्यक्त करता है। यह संसार) सन्ध्या और उषा का आँगन है। (सन्ध्या समय प्रकाश जाता और अन्धकार आता है, और उषाकाल में

अंधकार जाता तथा प्रकाश आता है। ऐसे ही इस संसार में दुःख और सुख का तथा सुख और दुःख का सन्धिस्थल समझना चाहिये। अथवा यह) वियोग और संयोग की भेंट है (जैसे प्रेमियों का एक-दूसरे से अलग होना और मिलना मूर्तिमान हो कर आपस में मिल रहे हैं अर्थात् जहाँ विरह और मिलन का सम्मिलन हो रहा है। कवि मानव-जीवन को सजीव रूप दे कर फिर कहता है कि) इस मानव-जीवन का मुखमण्डल सदैव (एक साथ ही) हँसी और आँसू दोनों से युक्त रहता है—इसमें एक ओर तो मुसकान विलसती है और दूसरी ओर रुदन सिसकता है। यहाँ सुख और दुःख दोनों का एक साथ ही अधिकार है। (इस प्रकार, वास्तविक मानव-जीवन की प्राप्ति, उसके प्रति संवेदनशील हृदय पाने की आकांक्षा तथा इन दोनों से पूर्ण जन-जीवन के रूप को अपनी कविता में व्यक्त करने की उत्कण्ठा कवि इस गीत में इङ्गित करता है।)

द्रष्टव्य—इस गीत में मानवीकरण के कई सुन्दर चित्र हैं। 'दुख सुख की निशादिवा में सोता-जागता जनजीवन' में यथासंख्य (क्रम) अलङ्कार है।

[५] देखूँ सब के उर की डाली

शब्दार्थ—**डाली** = चुनने के बाद फूल रखने के लिए बाँस बेत आदि की डलिया, चंगेर। **अकूल** = अपार, असीम, अनन्त। **किसलय** = नया निकला हुआ कोमल पत्र, कल्ला।

संदर्भ—पिछले (चौथे) गीत में सुख-दुःख दोनों को संसार के जीवन में आवश्यक माना गया है। यहाँ कवि इसी बात को दूसरे ढङ्ग से अन्य रूपकों और प्रतीकों की सहायता से व्यक्त करते हैं।

व्याख्या—(कवि जिज्ञासु अथवा अन्वेषक बन कर कहता है कि, इस (संसार रूपी उद्यान) में कली, कलिका, फूल (के साथ ही) काँटा (भी) है। मैं सब (लोगों) के हृदय की चंगेर को देखना चाहता हूँ कि जगत् की इस शोभा (रूपी) असीम फुलवारी से (किस-किस व्यक्ति) ने कौन-कौन फूल एकत्र किये हैं। (अर्थात् इस संसार में सुख और दुःख दोनों हैं। उनमें किसको किस-किसने अपनाया है—कौन सुखी है और कौन दुःखी है—यह मैं देखना चाहता हूँ। यहाँ कवि संसार के प्राणियों के सुख और दुःख से पूर्ण जीवन की जानकारी प्राप्त करने के लिए उत्सुक है।)

(मैं यह जानना चाहता हूँ कि संसार में किस किस व्यक्ति के हृदय में) किस सौन्दर्य (तथा) किस माधुर्य के प्रिय (कोमल अथवा सुन्दर) भाव (सञ्चित) हैं। (किसको) किस रङ्ग, किस रस तथा किस प्रवृत्ति से अनुराग है। (अर्थात् किस व्यक्ति को कौन-सा रङ्ग, रस अथवा रुझान अच्छा लगता है। इसके जानने का कारण यह है कि) कवि से किस (व्यक्ति, जीव वा पदार्थ की) कौन-सी बात छिपी रह सकती है ? (तात्पर्य यह कि कवि को प्रत्येक प्राणी एवं प्राकृतिक वस्तु की समस्त दशाओं का बोध होना चाहिये। तभी वह उन सबके प्रति पूर्ण तथा वास्तविक प्रेम तथा संवेदना रख सकता है। और ऐसा होने पर ही वह सच्चे अर्थ में कवि हो सकता है।)

(आगे फिर कवि यह कहता है कि मैं यह देखना चाहता हूँ कि) किस (व्यक्ति) ने कोकिला की वियोग (की वेदना

भरी) रागिनी ग्रहण की है, किसने भ्रमर का (पुष्प से) संयोग होने का (आनन्दमय) गीत लिया है, (किसने) फूला हुआ फूल अङ्गीकार किया है अथवा किसने मुरझाई हुई कली को चुना है। अभिप्राय यह कि किसके जीवन में दुःख है और किसके जीवन में सुख है। (यहाँ कोयल और मुरझाई कली को दुःख का और भ्रमर तथा विकच पुष्प को आनन्द का प्रतीक समझना चाहिये।)

(अब कवि ने मानो सब के हृदय की दशा को प्रत्यक्ष कर लिया। इससे वह कहता है कि) मैं सब (प्राणियों एवं पदार्थों) के हृदय की चंगेर देखता हूँ। सब (की चंगेरों) में कुछ तो सुख के पूर्ण विकसित (यौवन-सम्पन्न) पुष्प हैं और कुछ दुःख के ऐसे काँटे हैं जिनसे देखने वाले के मन में उनके प्रति दया के भाव उत्पन्न होते हैं। (इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि) सुख और दुःख को कोई भी भुला नहीं सका—दोनों ही सब के जीवन में विद्यमान हैं।

अलङ्कार—इसमें जीवन को उपवन मान कर रूपक चित्रित है।

[६] सागर की लहर लहर में

शब्दार्थ—**अवसाद**=खिन्नता, उदासी, विषाद। **भाविक**=कोमल भावना से युक्त अथवा कोमल भावों से अधिक और शीघ्र प्रभावित होने वाला; भावुक। (यहाँ संवेदनशील कवि अपने प्रति इस साभिप्राय विशेषण का प्रयोग करता है।)

प्रसङ्ग—पिछले गीत के विचार यहाँ भी चल रहे हैं। जैसे समुद्र की उछलती लहरों से उल्लास की सूचना मिलती है, किन्तु उसके भीतर

छिपे बाडव से उसकी अन्तर्वेदना भी प्रकट होती है ; ऐसे ही मानव-जीवन है। उसमें जहाँ बाह्य रूप में सुख और आनन्द दृष्टिगोचर होता है, वहीं उसका भीतरी रूप देखा जाय तो उसमें हाहाकार छिपा सिसकियाँ भरता दिखलायी पड़ेगा। कवि यही बात जीवन को सागर के रूप में चित्रित करके कहता है।

व्याख्या—(ऊपर से देखने पर) समुद्र की (इठलाती जान पड़नेवाली) प्रत्येक लहर में (उसके ऊपर पड़ती सूर्य की) सुनहरी किरणों की हँसी (खिलती दिखलायी पड़ती) है। (इस प्रकार उसके मुखमण्डल पर तो हास्य विलसता है, किन्तु साथ ही उसी) समुद्र के अन्तःकरण में (भीतर ही भीतर उसके जल के) निस्तब्ध (शान्त) कणों (बहुत ही छोटे-छोटे बिन्दुओं) का विषाद (छिपा) है। अभिप्राय यह कि समुद्र की उछलती-मचलती लहरें प्रत्यक्षतः उसके उमङ्ग-भरे जीवन का सङ्केत करती हैं तो उसके भीतर के पूर्णरूप से शान्त स्थिर जलकण यह सूचित करते हैं कि उसके हृदय में वेदना भरी है जिससे वह चुप है। (यहाँ कवि ऊपरी गति और भीतरी स्थिरता को क्रमशः उल्लास और विषाद का चिह्न मान कर मानवीकरण के द्वारा समुद्र में मानवोचित भावों का आरोप करता है।)

(इस प्रकार समुद्र में प्रकटरूपेण उल्लास और साथ ही अप्रकटरूपेण विषाद को दिखला कर कवि मानव-जीवन के सम्बन्ध में अपना निष्कर्ष व्यक्त करता है कि) यह (जगत्—मनुष्य का) जीवन समुद्र है। (यह) संसार के जीवन का समुद्र है। इसका प्रिय दुःख है। (साथ ही) इसका प्रिय आनन्द

(भी) है। तात्पर्य यह कि इस संसार को भी ऊपर के छन्द में वर्णित समुद्र के रूप में ही ग्रहण करना चाहिये। उसी के सदृश इसमें भी एक साथ ही विषाद और आह्लाद विद्यमान रहते हैं— एक छिपा रहता है तो दूसरा प्रकट। अतः प्रकट को देख कर छिपे हुए की ओर से आँखें फेर कर उसके अस्तित्व को अस्वीकार न करना चाहिये।

(अब कवि उपर्युक्त जीवन और सागर का रूपक छोड़ देता है और अधिक खुल कर कहता है कि मनुष्य के) संसार के जीवन में सुख और दुःख (दोनों ही मिले) हैं। (और) सुख एवं दुःख में ही (मनुष्य का) सांसारिक जीवन (व्याप्त) है। (उसमें सुख और दुःख ये दोनों ही क्रमशः) संयोग और वियोग (के रूप में एक-दूसरे से) चिर-प्रेम के आलिङ्गन से बँधे (हुए) हैं।

(अतएव संसार-सागर में अपने जीवन की नाव को सफलतापूर्वक खे कर अपने लक्ष्य तक जाने के लिए प्रयत्नशील कवि (अथवा मनुष्य) रूपी) नाविक (नौका के सञ्चालक) तू, (अपने इस) जीवन की प्रत्येक लहर (प्रत्येक बाह्य क्रिया) से हँसते हुए खेल ले, खेल ले (अपने जीवन में सुख के अवसरों का अत्यधिक उपभोग करते हुए उनको प्रत्येक क्षण प्रकट कर)। (इसके साथ ही) अरे भावनापूर्ण मानव, तू अपने जीवन के अभ्यन्तर में नित्य (घुस कर उसमें भलीभाँति) डूबा कर, (उसमें पूर्णतया) निमग्न हुआ कर (और उसमें अन्तर्हित वेदना का भी अनुभव किया कर)। अभिप्राय यह कि कवि

अपने लिए यह निश्चित करता है कि मैं जैसे जीवन के आनन्द के क्षणों का सुखोपभोग करूँगा वैसे ही अन्तर की वेदना का भी पूर्णतया डूब कर अनुभव करता चलूँगा।)

विशेष—इसकी आठवीं पंक्ति में 'प्रिय प्रि'आह्लाद' के विषय में कवि की व्यक्तिगत रुचि के कारण सन्धि के नियम की अवहेलना है। इस सम्बन्ध में उन्होंने 'विज्ञापन' में स्वयं ही स्वीकार किया है।

अलङ्कार—रूपक, परिकर, पुनरुक्तिप्रकाश।

[७] आँसू की आँखों से मिल

शब्दार्थ— **अभिवादन**=वन्दना, स्तुति। **अन्तर**=अन्तस्, अन्तःकरण, मन। **जीवन-कम्पन**=जीवन की चेतना। **पुलिन**=तट, किनारा। **मधुमय**=मिठास से पूर्ण, आनन्दयुक्त। **चिरन्तन**=पुराना, प्राचीन।

प्रकरण—जीवन में सुख और दुःख दोनों का अस्तित्व एवं प्रयोजन है, किन्तु दोनों से अलिप्त रहना ही जीवन की सफलता का मार्ग है। जब मन को इन दोनों से अलग रख कर जीवन को अबाध रखा जायगा तभी वह अपना वास्तविक उद्देश्य पूरा कर सकेगा। यही बात इस गीत में कही गयी है।

व्याख्या—(किसी दुःख से पीडित की) आँसू भरी हुई आँखों से मिलने पर संवेदनशील व्यक्ति के नेत्र (अश्रु जल से) परिपूर्ण हो ही आते हैं (ऐसा होना उसके लिए नितान्त स्वाभाविक है), किन्तु (इस प्रकार रुदन से नहीं, प्रत्युत) प्रसन्न वदन (रहने) से ही जीवन का (वास्तविक) वन्दन हो सकता है। अर्थात् जीवन का सच्चा सत्कार दुःख से पिघलने में नहीं, किन्तु सुख से मुसकराते रहने में ही है।

(जिस प्रकार) पुष्परस में (डूब जाने पर) अपने पंखों को (उससे) पूर्णतया लथपथ कर लेने (मधुपान में अत्यधिक लिप्त हो जाने) पर भौंरा (अपने मन का उल्लास-सूचक) गुञ्जार नहीं कर सकता, (उसी प्रकार) वेदना (के बोझ) से (दबा हुआ तथा) बोझिल हृदय (भी) जीवन की चेतना गँवा देता है। अभिप्राय यह कि सुख का अतिरेक मन को उमङ्ग प्रकट करने से वञ्चित कर देता है तथा दुःख की अतिव्याप्ति उसके जीवन-सूचक चेतन स्वरूप को नष्ट कर देती है। इससे सुख और दुःख दोनों की अति भली नहीं।

(अतएव जीवन के अस्तित्व के लिए मानव-) मन आकांक्षा करता है कि मुझे विश्वास मिले। (कारण,) विश्वास से युक्त; जीवन के ऊपर ही जीवन रूपी समुद्र अपने सुख और दुःख के (दोनों) किनारों को (अपने भीतर) डुबा कर उमङ्ग में आता है। अर्थात् मनुष्य की सच्ची साध यह है कि उसे अपने ऊपर पूर्ण विश्वास हो। वह न तो दुःख में डूबा रहे और न सुख में इतराये, प्रत्युत दुःख और सुख दोनों के ऊपर अधिकार रखे और इसी स्थिति में, समभाव से, जीवन-यापन करे।

(आगे कवि जीवन के लिए दुःख की उपयोगिता प्रकट करते हुए कहता है कि) दुःख मनुष्य की आत्मा का नित्य प्रति (सदैव) का प्रिय खाद्य है (और इसी) दुःख के अन्धकार को आत्मसात् करके (ही) वह (आत्मा) मन को उजाले से भरा करती है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अँधेरा भीतर जा कर विलीन हो जाता है और उजाला बाहर फूट पड़ता है उसी प्रकार

जीवन दुःख सह कर ही अपना दिव्य रूप प्रकट करता है। दुःखों के सहने से ही मनुष्य का कलुष मिटता है और वह सद्गुणों से युक्त अपने सच्चे और आदर्श रूप में संसार के सम्मुख उपस्थित होता है।

(इस प्रकार मानव-जीवन में सुख और दुःख दोनों का प्रयोजन होते हुए भी) संसार (में प्राणियों) का सुख और दुःख क्षणभंगुर है-- न तो सदा सुख रहता है न दुःख ही। (वस्तुस्थिति तो यह है कि मनुष्य का) जीवन ही नित्य और सनातन है --वही सदैव रहता है और सदा से रहता आया है, वह कभी नहीं नष्ट होता। (अतः कवि का निर्णय है कि) मन का (एक मात्र) सहारा सुख और दुःख (दोनों) से परे जीवन ही है। अर्थात् मन को सुख और दुःख दोनों से अलिप्त रख कर जीवन का सच्चा रूप अपनाना चाहिये, उसी के आश्रय में रहने से मन का कल्याण सिद्ध होगा

अलङ्कार = रूपक।

[८] कुसुमों के जीवन का पल

शब्दार्थ—**म्लान** = कुम्हलाया हुआ, मुरझाया हुआ। **मलिन** = फीका, श्रीहीन। **स्मिति** = मुसकान। **कुटिल**—वक्र, टेढ़ा, कपटी, छली। **जटिल** = जो जल्दी समझ में न आवे, दुरूह, दुर्बोध। **दावा** = जङ्गल के वृक्षों को भस्म करने वाली आग जो उनकी आपस की रगड़ से उत्पन्न होती है।

सूचना—जीवन में सुख की अस्थिरता और दुःख की अधिकता का कई साङ्ग और परम्परित रूपकों के सहारे उल्लेख करने के बाद कवि

इस गीत में यह प्रकट करता है कि दुःख के बीच से जीवन का विकास होता है।

व्याख्या—(मैंने) संसार में फूलों (के विकास) का क्षण भर का जीवन प्रसन्न (रूप में) ही देखा है। (अर्थात् फूल थोड़े समय के लिए खिलते हैं, फिर मुरझा जाते हैं। उन फूलों के अथवा मानव के) कुम्हलाये हुए (और) फीके ओंठों पर मुसकान की रेख (कभी) टिकाऊ (रूप से विद्यमान) न रही—उल्लास कभी अधिक समय तक उपस्थित न रहा, वह केवल झलक दिखला कर विलीन हो गया। अभिप्राय यह कि फूल केवल क्षण भर के लिए खिलते दिखलायी पड़ते हैं, स्थायी रूप से अथवा अधिक समय के लिए नहीं। इसका सङ्केत यह है कि जीवन में आनन्द अत्यन्त अल्प काल के लिए आता है। जैसे वह केवल दिखलायी पड़ता है, और चट लुप्त हो जाता है।

[इस अंश का यह अर्थ भी किया जा सकता है—मैंने संसार में फूलों का जीवन-काल हँसता—खिला हुआ—ही देखा है, किन्तु मेरे इन उदास और कान्तिहीन ओठों के ऊपर मुसकान कभी टिक न सकी, अर्थात् फूलों को सदा खिला देख कर भी मैं अधिक काल तक प्रसन्न मुद्रा में न रह सका, दुःख से निरन्तर घिरा ही रहा।]

(कवि का ध्यान अब एकान्त में निकली कली की ओर जाता है। वह उसे अकेले होते हुए भी खिलती देख कर कहता है कि जन-समाज से अलग) वन की जिस डाल में कोई दूसरी कली नहीं निकली अथवा जिसके ऊपर कभी रसग्राही भ्रमर वा

तितली के दर्शन नहीं होते ऐसी अकेली कली ने भी (अपने अन्तस् की प्रेरणा से ही) खिलना (अपना उल्लास प्रकट करना) सीख लिया है। (वह अकेलेपन के कारण दुःखी रह कर उदास अविकच नहीं रही, किन्तु खिल कर अपने स्वाभाविक आनन्द को प्रकट कर ही देती है।) परन्तु (मैं अपने जीवन में) अभी तक सुख के साथ (सुख पूर्वक अथवा सुख के द्वारा, दुःख को अंगीकार करना न सीख सका—कली तो विकसित हो कर एकाकीपन के दुःख को सुख के द्वारा अपना बना लेती है अथवा दुःख को सुख के साथ ले लेती है, किन्तु मैंने (अथवा मानव ने) दुःख को सुख के साथ सहना और दुःख में भी सुख से अपना विकास करना नहीं सीखा।

(अतः कवि संसार के वास्तविक जीवन का संकेत रूपक के द्वारा करता है कि) यह दुरूह संसार (रूपी वृक्ष) की शाखा (कष्ट रूपी) टेढ़े-मेढ़े काँटों (अर्थात् संसार के कपटों और छलों) से (भले ही) परिपूर्ण हो, (किन्तु) इस (जगत् रूपी तरु की टहनियों) से ही तो जीवन के (नये) पत्तों (कोंपलों) की ललाई निकली है। आशय वह कि जैसे पेड़ की डाल काँटों से भरी होती है, किन्तु उनके बीच से, उसी डाल से लाल-लाल नयी कोंपलें निकल कर उन काँटों को आच्छादित कर के पेड़ के भीतर भरे हुए जीवन के विकास का प्रमाण देती हैं वैसे ही यह संसार दुःखों से पूर्ण होते हुए भी मानव-जीवन के विकास का स्थल है। अतः मानव का धर्म है कि वह जगत के असंख्य दुःखों के बीच भी अपने जीवन के विकास का उल्लासमय

द्रम चलाता रहे।

(पेड़ का) अपना शरीर (उसके) अपने (ही) काँटे नहीं छेदते। (ऐसे ही) सोने के समान निर्मल बनने के लिए (दुःख की आँच में) नित्य (ही) प्राणों का धन (मानव आत्मा वा मन) तपा करता है। अभिप्राय यह कि पेड़ के काँटे औरों को भले ही चुभें, किन्तु स्वयं उसको तो नहीं चुभते। इसका संकेत यह है कि मनुष्य जिस संसार में रहता है उसमें कष्ट हैं, किन्तु वे उसके अपने अङ्ग जैसे हैं। वह उनको स्वाभाविक ढङ्ग से ग्रहण किये रहता है। उसका जीवन उनके कारण अपना सहज रूप नहीं त्यागता। ऐसे ही सोना आग में तपने से नष्ट न हो कर कुन्दन हो जाता है। मन भी नित्य दुःख सह कर अपने विकार दूर कर के शुद्ध हो जाता है।

संसार (में मानव) का जीवन रूपी वन दुःख रूपी दावानल से (जल कर भस्म अवश्य होता है किन्तु उसके बाद ही जले हुए वृक्षों की जड़ों से वह) नये अँखुए प्राप्त करता है (वन के जल जाने पर ठूँठ हुए वा भस्मसात् वृक्षों में नये अंकुर फूटते हैं, दुःख से अनुतप्त मानव के मानसिक विकार नष्ट होते हैं, तदनन्तर वह नये रूप में जीवन आरम्भ करता है।) इसी प्रकार (ग्रीष्म के ताप से जलते हुए प्राणियों के ऊपर) करुणा से द्रवित संसार (के सहृदय जन रूपी मेघों की) गरज (रूपी सहानुभूति पूर्ण सान्त्वना) नये जीवन (जल) के कण बरसाया करती है। तात्पर्य यह कि ग्रीष्म काल की तपन की संवेदना से बादल पृथ्वी को शान्त करने के लिए नयी बूँदें

बरसाते हैं। ऐसे ही संसार में दुःखों से तपे हुए लोगों को संवेदनापूर्ण मानव नया जीवन प्रदान करता है। जैसे आग से भस्म हुआ वन नये नये वृक्षों से लहलहा उठता है और ग्रीष्म काल की ज्वाला से झुलसा जगत् वर्षा के जल से हरा भरा हो जाता है वैसे ही दुःखों की यातना से व्यथित मन अपने समस्त विकार नष्ट करके मानव की संवेदना पा कर नया जीवन प्राप्त करता है।

अलङ्कार—इस गीत की पांचवीं पंक्ति में डाल को सूनी कह कर उसका मानवीकरण हुआ है। नवीं से बारहवीं पंक्ति तक तथा सत्रहवीं-अठारहवीं पंक्ति में परम्परित रूपक है। पन्द्रहवीं-सोलहवीं पंक्ति में उपमा से पुष्ट रूपक है।

दोष—पन्द्रहवीं पंक्ति में कविस्वातन्त्र्य से 'बनने के लिए' के स्थान पर केवल 'बनने' का प्रयोग होने से न्यूनपदत्व दोष है। 'गर्जन' पुंलिङ्ग है। इसका प्रयोग 'विश्व की गर्जन' में कवि ने स्त्रीलिंग के रूप में किया है। यह च्युत संस्कृत दोष है।

इस गीत की अंतिम दो पंक्तियाँ भी विचारणीय हैं। गर्जन जीवन के कण नहीं बरसाती किन्तु बादल ऐसा करते हैं। अतः कार्य से कर्ता का सङ्केत ग्रहण करने पर इसका अर्थ बैठेगा।

[९] जाने किस छल-पीड़ा से

शब्दार्थ—**त्रिभुवन-यौवन-धन** = तीनों लोकों के यौवन की सम्पत्ति, समस्त विश्व का पुञ्जीभूत यौवन। **पुलक** = हर्षातिरेक का सूचक शारीरिक विकार विशेष, प्रेम हर्ष आदि से रोएँ खड़े होना, रोमाञ्च। **मद** = यहाँ प्रेम रूपी मदिरा के पान से मतवाला हो जाने की दशा अभिप्रेत है। **साधन** = किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किये जाने वाले उपाय; मन की वृत्तियों का दमन करके उसको उचित मार्ग में चलाने की प्रेरक क्रिया। **नीरव नयन** = नेत्र जो मन की निष्क्रियता-

सूचक हैं, निश्चेष्ट मन वाले व्यक्ति के नेत्र। (यहाँ नेत्रों का मानवीकरण हुआ है।) **आधी इच्छाएँ**=मन में ही उत्पन्न हो कर वहीं विलीन हो जाने वाली ऐसी इच्छाएँ जिनकी पूर्ति के लिए कोई चेष्टा वा क्रिया नहीं की जाती। अथवा, अधूरी इच्छाएँ वा ऐसी इच्छाएँ जिनकी पूर्ति से पूर्ण प्राप्ति नहीं होती, जो कुछ वास्तव में अभीष्ट है वह नहीं मिलता। **अति इच्छाएँ**=ऐसी इच्छाएँ जिनका पूरा करना मानवशक्ति से परे है, अथवा अत्यधिक वेग से बढ़ती हुई नयी-नयी इच्छाएँ। **सम-इच्छा**=मन में न तो सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की नयी-नयी इच्छाओं की वृद्धि हो और न वह उनसे एकदम मुँह मोड़ कर साधन में ही रत रहे। किसी की भी अति न हो, दोनों में सामञ्जस्य हो। **मिथ्या पीड़ा**=मन की वह वेदना जो वास्तविक न हो, किन्तु जो अज्ञान के कारण उत्पन्न की गयी और पीड़ा समझी वा मानी जाती हो।

सङ्केत—इस गीत में मन की उलझन और उस उलझन का सुलझाव वर्णित है। मन एक ओर तो सांसारिक सुखों के भोग और उनके नित्य बढ़ते हुए प्रकारों की प्राप्ति को ही जीवन का एकमात्र साध्य मानता है, तो दूसरी ओर उनसे पूर्णतया विरक्त हो कर इन्द्रिय-दमन करता हुआ साधन-रत रहने में जीवन का कल्याण समझता है। परन्तु कवि विचार करके इन दोनों प्रकार की अति को अपने लिए उपादेय नहीं समझता। वह कहता है कि संयम के द्वारा दोनों में सामञ्जस्य स्थापित करके चलना ही ठीक है—भौतिकता में डूब कर आत्म-संयम को एकदम छोड़ना भी उचित नहीं और आत्म-साधन में निमग्न हो कर लोक से उदासीन होना भी श्रेयस्कर नहीं। लोक के सुखों का भोग करते हुए आत्म-चिन्तन भी करते रहना चाहिये।

व्याख्या--(कवि अपने मन की चिन्ताकुल दशा का उल्लेख करते हुए कहता है कि मुझे ठीक-ठीक) ज्ञात नहीं कि किस छलनामयी वेदना से प्रत्येक क्षण (मेरा) मन घबराया-घबराया

रहता है । (उसकी दशा ऐसी है) जैसे (मन में सञ्चित होने वाले विचारों का समूह बढ़ता जा रहा हो और वह पुञ्जीभूत वेदना आँसू बन कर) बरस पड़ने के लिए (हृदय रूपी आकाश में) बादल उमड़-उमड़ कर एकत्र हो रहे हों।

(अब कवि अपने अन्तर्द्वन्द्व के वर्णन-क्रम में पहली मनोवृत्ति का वर्णन करता है। वह बतलाता है कि प्रिया के) अधरों के ऊपर (सम्भोग की इच्छा से उनका रसास्वादन करते हुए चुम्बन की मुद्रा में अपने) मधुर (वासनामय सुन्दर और कोमल) ओंठ रख कर जीवन मीठे स्वर में कहता है कि (प्रिय-मिलन की) केवल एक प्रिय इच्छा के ऊपर समस्त संसार का यौवन रूपी धन उत्सर्ग (किया जाता) है। अर्थात् प्रियतमा के समागम का सुख ही यौवन का सर्वश्रेष्ठ सुख है । यौवन काल में जो अन्य सुख प्राप्त हो सकते हैं उन सब से बढ़ कर प्रिया का चुम्बन है । ऐसा करते समय आनन्द की अधिकता के अनुभव से) शरीर रोमाञ्च से परिपूर्ण हो जाता है और (मिलने में आसक्त) आँखें मद से (मतवाली हो कर) बन्द हो जाती हैं। (इस प्रकार पुलक और नेत्रों का मुँदना, प्रेम के अनुभाव, प्रेमी की मनोदशा को प्रकट करते हैं।)

(जिस समय वह इस प्रकार प्रेम में विलीन हो कर आत्म-विस्मृत हो जाता है ठीक) उसी समय मन सजग (सावधान) करता है कि, यह (प्रेमाधिक्य और उसकी विभोरावस्था) ठीक नहीं। मुझे तो आत्म-कल्याण के लिए यम और नियम के पालन के द्वारा इन्द्रियों का दमन करके) साधन करना (ही) अभिलषित

है—मेरा लक्ष्य तो प्रेम का भोग नहीं, प्रत्युत विराग है।

(इस प्रकार मानसिक संघर्ष उपस्थित होने पर भोग और वैराग्य दोनों प्रकार की वृत्तियों का पक्ष पुष्ट करने वाले तर्क सामने आते हैं और कवि कहता है कि सांसारिक पदार्थों के प्राप्त अथवा भोग करने की) आकांक्षा (ही) जगत् का (सच्चा और वास्तविक) जीवन है (संसार में रह कर इच्छा करना नितान्त स्वाभाविक है—अतः इच्छाओं से मुँह मोड़ना उचित नहीं। किन्तु तत्काल ही विचार शक्ति प्रेरित करती है कि) आत्मा (की उन्नति) का (सच्चा) धन (तो भोग नहीं, अपितु) साधन है। (इतने में ही फिर विचार बदलता है और कवि कहता है कि केवल) जीवित रहने की इच्छा भ्रम है, सच्चा जीवन तो इच्छाओं का जीवन है। अर्थात् सांसारिक जीवन का वास्तविक रूप वह है जिसमें इच्छाओं का क्रम बना रहे, बढ़ता रहे, न कि वह जिसमें संयम के द्वारा निरीह रह कर प्राण धारण किया जाय।

(सांसारिक भोगों की इन इच्छाओं के बढ़ने से विषयासक्त (भौतिक पदार्थों में मुग्ध) मानव के) निष्पन्द नेत्रों के सामने (असार मोहक वस्तुओं की मनोमुग्धकर) छाया के (विनश्वर किन्तु) मन को मोह के वश में कर लेने वाले रूप बार-बार (प्रकट होते और) लुप्त हो जाने के लिए (सदैव) मँडराया करते हैं। जैसे (आकाश में) बादल घुमड़-घुमड़ कर उठते हों (और उसे आच्छादित कर रहे हों)। तात्पर्य यह कि जैसे बादल घुमड़ते हुए चारों ओर से आ कर आकाश को भर

देते हैं वैसे ही इच्छाओं की पूर्त्ति के लिए अनेक मनोमोहक पदार्थ वा काल्पनिक चित्र मन को आच्छन्न कर लेते हैं। जैसे बादल अस्थायी होते हैं वैसे ही ये पदार्थ वा चित्र भी।

(अब कवि के विचारों में स्थिरता, दृढता और उनपर विश्वास आया। वह बोल उठा कि ये (सांसारिक भोगों की उपलब्धि के लिए) अधूरी (वा अपूर्ण) अथवा अत्यधिक (वा असाध्य) इच्छाएँ ही (जीवन की उन्नति के) साधन (के मार्ग) में (आनेवाली) अड़चनों के बन्धन हैं (जिनमें बँधा हुआ मानव आत्मोद्धार नहीं कर पाता। परन्तु यह निष्कर्ष भी समीचीन नहीं जान पड़ता। कारण,) साधन भी तो इच्छा ही है (भले ही वह भौतिक न हो, परन्तु कामना तो उसमें भी रहती ही है। अतः वह भी अग्राह्य है। तो फिर करना क्या चाहिये ? हाँ, मनुष्य के लिए यथार्थ) साधन है इच्छाओं का सामञ्जस्य। अर्थात् संयत रूप से इच्छाएँ करना—न तो एकदम भौतिक वस्तुओं में अत्यधिक आसक्त रहना और न आध्यात्मिक कल्याण को ही सर्वस्व मान कर संसार को एकदम छोड़ बैठना। दोनों को यथोचित रूप में ग्रहण करके जीवन-यापन करना श्रेयस्कर है।

(अन्त में कवि फिर अपनी अन्तर्वेदना का उल्लेख करते हुए कहता है कि इस प्रकार के विचारों के परस्पर विरोध की) उस वेदना से, जो मिथ्या बातों के कारण है, मेरा मन कुछ दुखता-दुखता (सा) रहता है। (भौतिक और आध्यात्मिक साधना दोनों की अधिकता का) झूठापन ही (इन दोनों मार्गों

की) असत्यता का खोखलापन प्रकट कर देता है । आशय यह है कि भौतिकता और विरक्ति दोनों की आत्यन्तिकता जीवन के लिए उचित नहीं—इनके सम्बन्ध में जो झूठी धारणा चली आती है उसके मिटते ही इनका असत्य रूप प्रकट हो जाता है और तब इन दोनों में समन्वय स्थापित करके तदनुसार जीवन का पथ निर्धारित करना कल्याणप्रद होता है।

विशेष—'छाया-छबियाँ' यह वाक्यांश कदाचित् चित्रपट के परदे पर पड़ने वाले छायाचित्र का अर्थ प्रकट करने के लिए कवि द्वारा गढ़ा गया है। छायाचित्र देखने में सुन्दर और मनोमोहक होते हुए भी सच्चे नहीं होते, वास्तविक रूप की प्रतिच्छाया मात्र होते हैं। फिर भी वे आँखों में बसे रहते हैं । इस वाक्यांश का अर्थ मूर्त्तियाँ लेने से ही इस शब्द का प्रयोग शुद्ध समझा जायगा, किन्तु छबि का प्रयोग हिन्दी में मूर्त्ति के लिए नहीं किया जाता । बँगला में अवश्य इसका यह अर्थ होता है । यदि छबि को हिन्दी में प्रचलित शोभा वा सौन्दर्य के अर्थ में लिया जाय तो इसका बहुवचन इसके मानवीकरण से ही उचित सिद्ध किया जायगा ।

अलङ्कार—अनुप्रास, उपमा, पुनरुक्तिप्रकाश ।

[१०] क्या मेरी आत्मा का चिर-धन ?

शब्दार्थ—**संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्श**=संस्कृति की वे बातें जिनसे मनुष्य की दुर्वृत्तियाँ दूर होती हैं और वह सद्वृत्तियों से पूर्ण देवत्व लाभ करता है, ऊँचा उठाने वाले विचार और कार्य । **अनादि**= जो सदा से हो, चिरकालीन ।

सङ्केत—इस गीत में कवि की आशावादिता के साथ ही उसके विश्व-प्रेम और ईश्वर के प्रति अटल विश्वास का उल्लेख हुआ है ।

व्याख्या—(कवि कहता है कि चिन्तन के क्षणों में) मैं नित्य (ही कुछ) आकुल (बेचैन) रहता (और सोचा करता हूँ कि) मेरी आत्मा का पुरातन (वा अन्तिम) धन (आत्मा का सबसे मुख्य साध्य) क्या है।

(इस प्रवृत्ति के फल-स्वरूप कवि की जो मनोवृत्ति स्थिर हुई अब वह उसका वर्णन करता है कि) मुझे यह समस्त चर (प्राणियों और) अचर (पदार्थों) का जगत् प्रिय है, जिसमें तिनके, पेड़, पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता (इन सब की) मनोहर कल्याणप्रद, चिर पुरातन और चिरजीवी (सदा से और सदा बनी रहने वाली) सृष्टि (रचना) है। (इन सब के प्रति उदासीन और एकमात्र) अपने सुख (में निमग्न वा आसक्त रहने से) मेरा मन सदा अस्थिर (बना रहता) है। (इसी कारण) मैं प्रत्येक क्षण आकुल रहता हूँ, बेचैन रहता हूँ।

(मेरी मानसिक स्थिति तो यह है कि) मैं (जीवन के) ऊँचे आदर्शों, मानव जीवन को दिव्य जीवन से सम्पन्न करने वाली संस्कृति और जीवन के आनन्द (मय) विचारों से प्रेम करता हूँ। (किन्तु व्यावहारिक जीवन में इन सब के अभाव के कारण मुझे) मानव जीवन अपूर्ण जान पड़ता है। (उसमें जो कुछ है वह उसका वह रूप नहीं है जो सचमुच होना चाहिये। इसी से) मैं (अपनी पूर्ण न हो सकी) इच्छा से आकुल रहता हूँ। बेचैन रहता हूँ।

(इसी प्रकार वस्तु स्थिति के कारण उन्मन होते हुए भी मैं निराश नहीं। मुझे विश्वास है कि जीवन कभी न कभी पूर्णता

प्राप्त करेगा। ऐसा आशावादी होने के कारण) मुझको संसार के जीवन में आनन्द (मिलता) है। मुझको नयी आशा (है और) नयी इच्छा है। (इस नयी आशा और अभिलाषा के पूर्ण होने का विश्वास भी है। कारण,) मुझको ईश्वर का सदा से भरोसा है (कि वह मानव को देवत्व प्रदान करेगा ही। (मैं यह भी मानता हूँ कि अपनी वर्तमान कलुषित दशा से मुक्त हुए) संसार (के लोगों) को (अब) नया जीवन (मिलना) चाहिये। (इसी के मिलने के लिए) मैं तड़पता हूँ। बेचैन रहता हूँ, बेचैन।

[११] खिलती मधु की नव कलियाँ—

शब्दार्थ—**रँग**=आनन्द, मौज, दशा। **सालस सुख**=आलस्य से युक्त सुख, निष्क्रिय (निश्चेष्ट) सुख; सुख की ऐसी दशा जिसमें उसका उपभोग चुपचाप किया जाता हो, और शारीरिक वा मानसिक व्यापार का नितान्त अभाव हो, सुखोपभोग की अवसन्नता (सुस्ती) और तन्मयता से पूर्ण आनन्द। **उठता प्राणों में स्पन्दन**=मन में चेतना होती है जिससे भाव प्रकट करने को आकुलता होती है।

सङ्केत—इस गीत में "बन बन, उपवन···" से प्रारम्भ होने वाले इस संग्रह के सर्व प्रथम गीत के भाव, विचार और चित्रों की आवृत्ति हुई है। वसन्त के आगमन से एक ओर प्रकृति की प्रत्येक पंखुड़ी और कली में विकास, सुगन्धित पवन का प्रसार और भ्रमरों का गुञ्जार होता है तो दूसरी ओर कवि के मन में हर्ष का सञ्चार होने से भावों की अभिव्यक्ति के आकुलता-जन्य उद्गार गीत बन कर निकल पड़ते हैं।

व्याख्या—(कवि की स्वगतोक्ति है कि वनों और उपवनों में) वसन्त (आने पर विविध फूलों) की नयी (-नयी) कलियाँ

खिलती हैं। (अब इस हर्षोन्मादक समय में) हे मेरे मन, तू (भी) खिल उठ, तू (भी अपनी पूर्ववर्ती उदासी, निष्क्रियता आदि को त्याग कर अपनी) प्रसन्नता प्रकट कर। फूल खिल कर अपनी पंखुड़ियों के द्वारा नया सौन्दर्य प्रकट करते और अपने भीतर स्थित पराग का सुवास पवन के द्वारा वायुमण्डल में विकीर्ण करते हैं। ऐसे ही तू खिलने के अनन्तर अपने भीतर छिपे भावों, विचारों और उद्‌गारों के) नये सौन्दर्य की पंखुड़ियों को खोल कर (अब उन्हें बन्द न रहने दे कर) (इनके भीतर छिपे) पराग रूपी धन (की सुगन्ध) को (चतुर्दिक्) व्याप्त कर दे। (अपनी कविता का प्रसार साहित्य के क्षेत्र में होने दे।)

(इस प्रकार के तेरे काव्य को पढ़ने-सुनने से उसी प्रकार मानव-समाज का) जीवन नयी शोभा, नयी दशा अथवा नये आनन्द और नयी मिठास (नये माधुर्य) से खिल उठे और (हर्ष से) रोमाञ्चित हो जाय (जिस प्रकार वसन्त में फूलों के खिलने से पतझड़ की सारी कुरूपता नष्ट हो कर समस्त वन प्रदेश नये सौन्दर्य, रूप और माधुर्य से पूर्ण हो कर प्रसन्न दिखलायी पड़ता है।) और (जैसे वसन्त में सुगन्धित पवन चलता है वैसे ही तेरे अभ्यन्तर में व्याप्त) आनन्द के अतिरेक की सुगन्ध से (समग्र मानव-समुदाय के हृदय से निकलने वाली) श्वास (रूपी उद्‌गारों) का मलय-पवन (दिग्दिगन्त को सद्विचाररूपी सुगन्ध से परिपूर्ण करने वाला उद्‌गार) चतुर्दिक फैल जाय (निकलने लगे। अभिप्राय यह कि तेरी कविता के प्रभाव से सारा मानव समाज सद्विचार और आनन्द की अभिव्यक्ति करने

लगे। अब पुष्पों के पराग का पान करने के लिए आगत भ्रमरों का) वासन्ती उपवन में नया गुञ्जार, नितान्त नया (अभिनव) गुञ्जार होने लगा। (और जैसे भौंरे फूलों का मधु एकत्र करने के लिए प्रयत्नशील हुए वैसे ही विश्व व्याप्त सौन्दर्य से अपने) जीवन के लिए माधुर्य एकत्र करने के लिए (मेरे) प्राणों (हृदय) में आवेग होने लगा—मन में कविता करने के लिए भाव उठने लगे।

(इस प्रकार आनन्द के मनोभाव उठने से) नयी-नयी इच्छाएँ (जो अब तक प्रसुप्तावस्था में थी अब) प्रकट हो कर (फूलों की पंखुड़ियों के खिलने के सदृश) जीवन के दलों को फैलाती हैं (जीवन के विविध रूपों को प्रकट करती हैं।) तब (आनन्द के गीत) गाते-गाते (मेरे) प्राणों का भ्रमर उन (विकच भाव रूपी खिले फूलों) का पराग जितना जी करता है उतना (छक कर) पान करता है। अर्थात् मेरे प्राण जीवन के समस्त रूप का आनन्द जी-भर कर लेते हैं।

अलङ्कार—इस गीत में वसन्त का रूपक है।

दोष--इस गीत की सातवीं-आठवीं पंक्तियों 'सुख की सौरभ' में सौरभ को कवि ने सौरभ की कोमलता और नारी सुलभ सुकुमारता से पूर्ण मान कर स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त किया है। यह हिन्दी के प्रचलित प्रयोग के विरुद्ध होने से च्युतसंस्कृत दोष है। इसी प्रकार, 'सालस सुख की सौरभ से साँसों का मलय समीरण' में कुछ शब्दों वा अध्याहार किये बिना अर्थ नहीं खुलता। 'सौरभ से' साँसों का समीरण क्या है? पूर्ण अथवा उत्पन्न? और समीरण क्या करता है? चलता है, वा निकलता है? इस प्रकार कुछ शब्दों के अभाव के कारण न्यूनपदत्व दोष है।

[१२] सुन्दर विश्वासों से ही

शब्दार्थ—मृदु = धीमा, मन्द । **विशद** = निर्मल, स्वच्छ। **अणु** = अत्यन्त सूक्ष्म कण ।

सङ्केत—जीवन से वैराग्य लेने वा उदासीन होने में सुख नहीं। वह तो है उसके प्रति विश्वास रखने में। इस गीत में यही विचार प्रकट किया गया है।

व्याख्या—जैसे सहज (स्वाभाविक) साँसों से हृदय की धीमी धड़कन चलती है, (अर्थात् स्वाभाविक श्वासों के ऊपर ही हृदय की मन्द गति टिकी रहती है, वैसे ही) अच्छे विश्वासों से जीवन सुखपूर्ण बनता है (अर्थात् सुन्दर विश्वास ही आनन्दमय जीवन के स्रष्टा हैं, उन्हीं से जीवन में सुख मिलता है।)

यदि मन की (आन्तरिक प्रेरणा) हँसने की हो (यदि भीतर से आह्लाद की लहर उठ कर हँसने की प्रवृत्ति उत्पन्न करे) तो (ऐसे) हँसने में ही (वास्तविक) सुख है । (ऊपरी मन से हँसने में, केवल दिखावे की हँसी में, सच्चा सुख नहीं है।) (वैसे तो) दुःख के (आन्तरिक अनुभव से उमड़ने वाले) मोती के से (उज्ज्वल और गोल) आँसू (भी देखने में) अच्छे लगते हैं । (किन्तु उनमें सुख नहीं मिलता । ऐसे ही ऊपरी मन की हँसी भी सुखप्रद नहीं। सच्चा सुख तो अन्तस्तल के उल्लास के कारण उठी हँसी में ही है।)

(इस प्रकार हार्दिक आनन्द की अनुभूति के द्वारा उत्पन्न हँसी के क्षण भले ही कम हों किन्तु जीवन में उनका महत्त्व

उसी प्रकार बहुत है जिस प्रकार) महत्ता के (महत्ता रूपी) स्वच्छ समुद्र में (जल के बहुत ही) छोटे-छोटे-कण (टुकड़े) होते हैं (किन्तु उनकी उपेक्षा इसलिए नहीं की जा सकती कि वे बहुत ही छोटे होते हैं । कारण, उन्हीं छोटे-छोटे जलकणों के एकत्र होने से ही तो सागर बनता है। इसी प्रकार) जग के (समस्त पदार्थों के) जीवन का विकास अणु से ही (तो) हुआ है। छोटे से अणु का सबसे भारी साधन (यही है कि उसने सृष्टि के यावत् पदार्थों का निर्माण किया है। अणु को अत्यन्त सूक्ष्म समझ कर तुच्छ समझना ठीक नहीं । कारण यह कि बहुत ही छोटा होते हुए भी अणु अखिल सृष्टि के सृजन का मूल है । ऐसे ही जीवन के एक क्षण का भी आन्तरिक आनन्द की हँसी के रूप में प्रकट होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझना चाहिये। वह अत्यल्प है यह मान कर वह अवहेलना के योग्य नहीं।)

(अतएव यह विदित हुआ कि) जीवन के नियम (बहुत ही) सीधे सादे हैं, परन्तु इस सरलता का पूरा अभिप्राय समझ सकना अत्यधिक कठिन है। (जिस प्रकार जीवन के आवागमन से) मुक्त होने का मधुर मुहूर्त (बहुत ही) सरल है किन्तु मुक्ति का बन्धन (जो आत्मा को लोक कर्तव्यों से एकदम छुटकारा दे कर निर्लिप्त रूप हो निश्चेष्ट बनने से मिलेगा) बहुत ही कठिन है (उससे छूटना असाध्य है)। (अभिप्राय यह कि जीवन के प्रत्येक पल में विश्वास रख कर उसमें ही आनन्द का अनुभव करना चाहिये । यह बात सरल जान पड़ने पर भी

व्यवहार में कठिन है। प्रायः समझा जाता है कि आनन्द अधिक काल तक हो तभी उसका अस्तित्व मानना चाहिये। ऐसा समझना भूल है। जो भी अल्पकाल का आनन्द हो, वह भी आनन्द ही है। उसका अनुभव करने पर जीवन के प्रत्येक क्षण का महत्त्व समझ में आ जायगा। और जैसे अणु-अणु से पदार्थ बनता है वैसे ही क्षण-क्षण के समूह से जीवन बनता है। अतः क्षण-क्षण के आनन्द को एक करने पर जीवन आनन्द-मय हो जायगा। एक बात और। वैसे तो संसार के कार्यों से छुटकारा पा कर निर्वाण वा मुक्ति की प्राप्ति का क्षण बड़ा ही सुखद प्रतीत होता है, किन्तु सच पूछा जाय तो यह निश्चेष्टा-वस्था जीव के लिए बड़ा ही कठोर बन्धन है, जिसमें पड़ कर वह फिर किसी काम का नहीं रह जाता और सदा के लिए उसी बन्धन में जकड़ा रहता है। सारांश यह कि कर्ममय जगत् का जीवन ही सुख का आकर है, उससे हट कर मुक्तिलाभ करने में सुख नहीं दुःख है।

द्रष्टव्य—अणु से विकसित जग-जीवन—के द्वारा कवि ने अणुवाद (अणु सिद्धान्त) को स्वीकार करके यह प्रकट किया है कि मानव जीवन में भी लघुक्षण वैसे ही महत्त्वपूर्ण हैं जैसे अणु, जो आपस में मिल कर प्रत्येक पदार्थ का निर्माण करते और उसमें शक्ति प्रदान करते हैं।

अलङ्कार—'मोती से आँसू के कण'—में धर्मलुप्तोपमा, 'महिमा के विशद जलधि' में रूपक और 'है सहज मुक्ति का मधुक्षण, पर कठिन मुक्ति का बन्धन' में विरोधाभास है।

दोष—तीसरी पंक्ति में 'सहज-सहज' में सहज का अर्थ (सह-ज) स्वाभाविक किया गया है। यह अर्थ मानने पर सहज की आवृत्ति से

कोई विशेष सौन्दर्य नहीं प्रकट होता । इसमें पुनरुक्ति दोष होगा। कवि को इस दोष से बचाने की इच्छा हो तो इन शब्दों का अर्थ क्रमशः सरल (और) स्वाभाविक करना होगा । परन्तु कवि ने इस संग्रह के गीतों में शब्दों की सार्थक वा निरर्थक आवृत्ति की प्रवृत्ति अपनायी है। अतः यहाँ पुनरुक्ति दोष ही प्रतीत होता है । दूसरे, इस गीत में (और इसके पहले तथा पीछे के गीतों में भी 'रे' का, हमारी समझ में, अनावश्यक प्रयोग हुआ है । यह भरती के लिए है। इससे सार्थक शब्दों का प्रयोग करने में कवि की असमर्थता विज्ञापित होती हैं।

[१३] सुन्दर मृदु-मृदु रज का तन

शब्दार्थ—**विभ्रम** = सौन्दर्य, सौष्ठव । **उपक्रम** = कार्यारम्भ की पहली दशा, अनुष्ठान । **प्रशस्त** = श्रेष्ठ, भव्य, विस्तृत। **पुराण** = पुराना ।

संकेत—इस गीत में कवि मानव जीवन की समस्त बातों में सौन्दर्य देखता है। उसे वह सब बातों में सुन्दर दिखलायी पड़ता है। वह उसके क्रम-विकास में सौन्दर्य की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई गति मानता है ।

व्याख्या—(कुछ लोगों को पञ्चतत्वों का बना यह मानव शरीर नश्वर होने के कारण, भले ही तुच्छ और घृणास्पद प्रतीत हो किन्तु कवि की धारणा इसके विपरीत है। वह मानता है कि) कोमल (और) सुकुमार मिट्टी (भू तत्व) का बना हुआ (मानव) शरीर सुन्दर है । सुख और दुःख से पूर्ण (उसका) मन चिर (सदा से और सदा के लिए) सुन्दर है। (उसकी आयु के विविध काल अर्थात् उसकी) शिशु एवं युवा अवस्थाएँ सुन्दर हैं। (इस प्रकार) संसार (में मनुष्य का जो कुछ है वह सब) सुन्दर है, (हाँ, सचमुच) सुन्दर है।

(मनुष्य की) वाणी (से निकलने वाले वचनों) का सौष्ठव

सुन्दर है। (मनुष्य के जीवन में किये जाने वाले) कर्मों का अनुष्ठान (आयोजन भी) सुन्दर है। (इतना ही नहीं, उसका) जन्म और देह-त्याग भी सुन्दर है। जगत् में (सब कुछ) जीवन सुन्दर है, सुन्दर है।

(मानव शरीर से सम्बद्ध वस्तुएँ ही नहीं, अपितु संसार की) विस्तृत (अथवा भव्य) दिशाओं के छोर सुन्दर हैं। अत्यन्त छोटे और सदैव नये (रूप में आने अथवा रहने वाले जीवन के वा काल के) क्षण सुन्दर हैं। पुराना और नया (जो कुछ है वह सब) सुन्दर है। विश्व का (समस्त) जीवन सुन्दर है, सुन्दर है।

(सच पूछिये तो इस विश्व अथवा मानव के) जीवन का क्रम (ही) सुन्दर है। यह क्रमशः सुन्दर से सुन्दरतर (पहले से बढ़ कर सुन्दर) और (फिर उस) सुन्दरतर से सुन्दरतम (सबसे अधिक सुन्दर) होता जाता है। (अभिप्राय यह कि यह उत्तरोत्तर अधिकाधिक सौन्दर्य की ओर अग्रसर रहता है। इसका लक्ष्य ही है पहले की अपेक्षा अधिक सुन्दर बनते रहना।)

(अतः निष्कर्ष यह है कि) जगत् का जीवन (सचमुच) सुन्दर है, सुन्दर है।

दोष—इस गीत में भी सुन्दर-सुन्दर की आवृत्ति में कोई विशेष सौन्दर्य नहीं प्रतीत होता। यदि इसमें पुनरुक्ति दोष देखा जाय तो द्रष्टा को दोषी न ठहराना चाहिये। कवि तो शब्द का मीनाकार होता है। वह यदि उचित शब्दों का उचित स्थान पर प्रयोग नहीं करता तो उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती।

[१४] गाता खग प्रातः उठकर

शब्दार्थ—**अपलक तारावलि**=तारों की पाँत जो पलक गिराये बिना बराबर एकटक देखती रहती है, निरन्तर चमकने वाले तारे। **आँखें नीरव**=जिन आँखों से वेदना सूचित मात्र होती है, शब्द करने का सामर्थ्य न होने से जो आँखें मन का क्लेश अपने बाह्य रूप से प्रकट करती हैं। **हिलोर**=तरंग। **बुद्बुद्**=पानी का बुलबुला।

व्याख्या—सबेरा (होते ही) पक्षी (आनन्द में मतवाला हो (चहचहा) कर कूजन करता है कि (इस) संसार का जीवन बढ़िया (और) सुख से परिपूर्ण है। (दिन भर जीवन का व्यावहारिक रूप बरतने के पश्चात् वही) पक्षी सन्ध्या के प्रारम्भिक स्थल (किनारे) पर (पहुँचता है तब भी) गाता है कि जगत् का जीवन (जैसा मैंने अनुभव किया है) कल्याण एवं माधुर्य से पूर्ण है। (इसमें सौन्दर्य, हित और मधुरता है।)

(अपने मन की बात इस प्रकार वाणी से स्पष्ट रूप में व्यक्त करने में असमर्थ) निरन्तर एकटक देखने वाले तारे (अपनी) अनुभूति अपनी आँखों से बतलाते हैं कि (जगत् के प्राणियों के मन की वेदना के कारण उनकी) आँसू भरी आँख देख कर (हमारी) चुप आँखें (जिनसे हमारे हृदय की संवेदना का सङ्केत ग्रहण किया जा सकता है सहानुभूति से) आँसू से भर आती हैं। (अभिप्राय यह कि तारे सदैव जागते हुए संसार की वास्तविक दशा मानो निरन्तर देखते रहते हैं। वे संसार के प्राणियों की वेदना देख कर स्वयं भी दुःख से भर जाते और अपनी आँखों में आँसू भर लाते हैं। इस प्रकार वे संसार के

दुःखमय जीवन की बात मौन होते हुए भी अपने नेत्रों से सूचित करते हैं।)

(उपर्युक्त जीवन का दुःखमय होना ही एकमात्र सत्य नहीं है। मानो इसका प्रतिवाद करते हुए उद्यान वा वन में) खिले हुए (प्रसन्नवदन) फूल (हमें वा मुझे) सिखाते हैं कि (जीवन की अवधि) केवल क्षण भर है। यदि (तुम इस अल्पकाल में) हँस सको (विषाद छोड़ कर प्रसन्न हो सको, तो (अपने हृदय) रूपी विकच पुष्प) की सुगन्ध से इस जगत् का (समस्त) क्षेत्र परिपूर्ण कर दो। (अर्थात् फूल खिलते हैं और कहते हैं कि हमारा जीवन चिरस्थायी नहीं है, क्षणभङ्गुर है, फिर भी हमसे एक बात सीख लो। हम जीवन को क्षणिक समझ कर उदास नहीं रहते, प्रत्युत उस अल्पकाल में भी खिल कर हँसते रहते हैं और अपनी सुगन्ध चारों ओर फैला कर सब को प्रसन्न करते हैं। इसी प्रकार हे मानव, तुम भी हमारे सदृश बनो। तुम अपने क्षण भर के जीवन में मन मार कर मत बैठो। प्रसन्न रहो। अपने मन के अच्छे भावों को प्रकट करो और अपने समान ही संसार के अन्य व्यक्तियों को भी आनन्द से पूर्ण कर दो। इसी में तुम्हारे जीवन की सार्थकता है।)

(जीवन सागर की उमङ्ग रूपी) लहरें उठ-कर (उमड़ती हुई मुझसे यह) कहती हैं कि (अपने आगे बढ़ने के प्रयत्न में पूर्णतया सफल न हो) हम (भले ही समुद्र का) किनारा (जीवन का लक्ष्य) न देख पायें, परन्तु (इससे हम हताश हो कर निश्चेष्ट न रहेंगी, सदा प्रयत्न करती रहेंगी और साथ ही हमारा

यह अभिलाष होगा कि) इस (आगे बढ़ने के प्रयत्न के) उत्साह में बहते हुए नित्य आगे बढ़ती रहें। (अभिप्राय यह कि लहरें अपनी सार्थकता केवल अपने लक्ष्य की प्राप्ति में नहीं मानतीं, वे यह भी समझती हैं हम चाहे अपने पहुँचने का अन्तिम स्थल न पा सकें, फिर भी हम उस स्थल तक पहुँचने की चेष्टा अविरत करती रहें—बस इसी में हमारे अस्तित्व की सार्थकता है। ऐसे ही, मानव अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति न कर पाये तो उसे भी हताश न होना चाहिये, किन्तु उस तक पहुँचने के अपने यत्न में उसे निरन्तर लगे रहना चाहिये। यही शिक्षा लहरें देती हैं।)

(इस प्रकार निरलस भाव से आगे बढ़ने में प्रयत्नशील जल की) लहर (अन्ततः) काँप-काँप कर (घबरा कर थरथराते हुए) रह जाती है (कुछ कर नहीं पाती) कि उसको जीवन (जल वा प्राण-धारण) का छोर (अन्त) नहीं मिल पाता, (परन्तु उसी पानी में उठा हुआ) बुलबुला (क्षण भर का जीवन उमङ्ग में फूल कर आनन्दपूर्वक व्यतीत करके जहाँ उठता है वहीं) लुप्त हो कर (भी आगे बढ़ने का व्यर्थ प्रयास नहीं करता, किन्तु जहाँ उत्पन्न होता है वहीं पूर्णता प्राप्त करके अपने अस्तित्व, अपने जीवन का) समस्त प्रयोजन (उद्देश्य) प्राप्त कर लेता है। (अभिप्राय यह कि लहर के आगे बढ़ने का प्रयत्न मानव के लिए प्रेरक भले ही हो, किन्तु वह उसको चरमसिद्धि तक पहुँचने का आदर्श नहीं दिखलाता। इसके विपरीत बुलबुला यह सन्देश देता है कि तुम अपनी सीमा के भीतर ही पूर्णता प्राप्त करने का उपाय करो। उसी में तुम्हारा पूर्ण विकास सम्भव है।)

दोष—इस गीत की ग्यारहवीं पंक्ति में भी (ग्यारहवें गीत की नवीं पंक्ति के समान ही) 'उर की सौरभ' में सौरभ का स्त्रीलिंग में प्रयोग करके कवि ने च्युत संस्कृत ने दोष किया है।

[१५] विहग, विहग

शब्दार्थ—**निकुञ्ज**=घनी लताओं से घिरा स्थल, लता-मण्डप। **मैं रे प्रकाश में गया बोर**=मैं प्रकाश के रंग में बोरा (डुबाया) गया। (बोरना=डुबाना) किन्तु यहाँ बोरने का अर्थ डूबना, समा जाना लेना पड़ेगा तभी अर्थ की संगति बैठेगी। **मर्म**=मर्म स्थल, शरीर के वे कोमल अंश जिन पर आघात या आक्षेप करने से मनुष्य को विशेष मानसिक उत्तेजना हो। **मदिर-तीर**=मत्तता या मस्ती धारण करनेवाला बाण। **छवि का मदिर तीर**=हृदय को अपने प्रभाव से मतवाला कर देने वाला सौन्दर्य का प्रभाव। **मधु मुखर**=मदमत्त होने से अपने भावों को प्रकट करने को बोलता हुआ। **स्वर्णप्रात**=अँगरेजी के 'गोल्डेन मौर्निंग' का रूपान्तर। नये कवियों के द्वारा यह वाक्यांश रंगीनी, सुषमा, प्रकाश और नये सुन्दर रूप के जीवन के प्रारम्भ होने के लिए प्रयुक्त होता है। **मरन्द**=मकरंद, पराग। यह शब्द केवल कविता में प्रयुक्त होता है। **अमन्द**=जो फीकी न हो, सदा एक सी वेगवती रहने वाली।

सङ्केत—यहाँ कवि ने इस संग्रह की रचनाओं के पूर्व की निराशामय दशा में अकस्मात् परिवर्तन और उल्लास एवं आशा से पूर्ण जीवन के प्रारम्भ होने का वर्णन किया है। उसने प्रातःकाल को पक्षियों के कलरव, भ्रमरों के गुञ्जार और प्रकाश से व्याप्त दिखला कर अपने हृदय में नयी उमंग के उठने और नयी चेतना से ओतप्रोत अपने नये गीतों के उद्भव का उल्लेख किया है।

व्याख्या—(मेरे हृदय रूपी नीड में सोये हुए अनेक भाव रूपी) झुण्ड के झुण्ड पक्षी (बहुत काल तक विराम रूपी निद्रा से जग कर) चिर (सदैव से) सुन्दर हृदय के लता-मण्डल को

मधुर स्वर से निनादित कर के फिर चहचहाने लगे (अनेकधा अपनी अभिव्यक्ति करने लगे। अर्थात् पक्षियों के झुण्डों के चहक उठने से कुञ्ज कलरव से परिपूर्ण हो गये—मन के भीतर प्रसुप्त भावों के सजग होने से वाणी मुखर हुई और गीतों की कलध्वनि गूँजने लगी।)

(अपने घोंसले में मुँह छिपाये सोते हुए पक्षियों को अपने स्पर्श से सजग करके) किस (सूर्य की) सुनहली किरण की करुणा-पूर्ण नोक इनको आनन्द (और उल्लास) में विह्वल (मत्त) कर गयी (जिससे ये अकस्मात् एक स्वर में गाने लगे)? यह किन नये (रँगीले) स्वप्नों का जागरित प्रभात है? (कौन से अलौकिक कल्पनाओं से पूर्ण सपने जग पड़े हैं और उनका यह सबेरा हो रहा है, जो चिड़ियों के चहचहाने से जागरण की सूचना दे रहा है? अर्थात् मेरे हृदय में प्रसुप्त भाव किस अदृश्य सत्ता के करुणामय अज्ञात स्पर्श के आनन्द से पागल हो कर एक साथ कविता के रूप में फूट पड़े हैं; जैसे मेरे अन्तस्तल के स्वप्नों का (काल्पनिक, मनोहर जगत्) सक्रिय हो कर प्रकट हो रहा हो—मेरे मन के सुहावने भाव प्रत्यक्ष हो रहे हैं।)

(यह नव चेतना, नव-जागरण होते ही मेरे) हृदय का कोना-कोना (सम्पूर्ण हृदय स्थल प्रसन्नता से) हँसने लगा। (मैं सम्यक् रूप से आनन्द की अभिव्यक्ति करने लगा।) उसमें (प्रसुप्त भावरूपी) पक्षी जाग-जाग कर मधुर रव करने लगे। (हृदय के भाव खुल पड़े और माधुर्य पूर्ण कविता के रूप में व्यक्त होने लगे। और अब सूर्य के बिम्ब के और ऊपर उठने

पर भूमण्डल के सदृश) मैं (ज्ञान, जागरण वा भावों की स्पष्टता के) प्रकाश में डूब गया। (मेरे हृदय के सामनें अपने जीवन का स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो गया।)

(अब तक) चिरकाल से बन्द मर्मस्थलों की गुफा के द्वारों को और हृदय के अँधेरे को एक ओर से दूसरे छोर तक किस स्वर्गीय किरण ने छू दिया है! (अभिप्राय यह कि मेरे हृदय के कपाट बन्द थे। उसके भीतर अपने लक्ष्य के अभाव रूपी अज्ञान का अँधेरा छाया हुआ था।) उसको किस अलौकिक प्रकाश की किरण ने छूते ही दूर कर सम्पूर्ण हृदय-मन्दिर में अपना उजाला व्याप्त कर दिया है? (जिससे मुझे अपना जीवन-पथ स्पष्ट दिखलायी पड़ने लगा है।)

यह किस सौन्दर्य का मदोन्मत्त करने वाला बाण है, (जिसके चुभते ही अन्तर्वेदना को व्यक्त करने के लिए) आनन्द में विभोर काव्य-गीत गाते हुए (मेरे) प्राण रूपी कोकिल आकुल हो रहे हैं? क्या (यह बाण मेरे) हृदय को विदीर्ण कर डालेगा? (इसके चुभने से मेरे हृदय में जो प्यारी टीस उठ रही है वह गीत के रूप में प्रकट हो कर समाप्त होने की नहीं। आशय यह है कि मेरे हृदय में किसके प्रेम बाण की अनी चुभ रही है जिससे मस्त हो कर वह भावों की धारा छोड़ रहा है।)

(इस उल्लास के समय मेरी) साँसों का पवन अस्थिर हो उठा है, चल रहा है। (आनन्दातिरेक से हृदय की गति बढ़ जाने से साँस जल्दी-जल्दी चलने लगी। इस प्रकार मानो आनन्द मन के भीतर समा नहीं सकता।)

भावों की माधुर्यपूर्ण (अथवा प्रिय) भीड़ गूँज रही है। (असंख्य सुखकर भावों के उठने से उनकी अभिव्यक्ति कविता के रूप में होने लगी है। और) सुख (के आधिक्य) से (उमड़ कर) आँखों के आंसुओं की झड़ी लग गयी है। (तात्पर्य यह कि सुख के अनुभाव उच्छ्वास, भावोद्रेक और अश्रु के द्वारा प्रकट हो रहे हैं।)

(इसी प्रकार मेरे) रोओं के ऊपर मलयानिल चल रहा है (मुझे अपने शरीर पर सुगन्धित मलयपवन का सुख मिल रहा है।) हृदय (आनन्द से) उछल रहा है, (और वन प्रदेश के वृक्षों के) पत्ते (रूपी मेरे) शरीर (के रोम-रोम) पुलकायमान (हो रहे) हैं—मेरा समस्त शरीर रोमाञ्चित हो रहा है। यह मेरे जीवन का सुवर्ण-प्रभात है। (मेरे जीवन में यह ऐसा नया परिवर्तन उपस्थित करने वाला समय है जिसमें उसके उज्ज्वल भविष्यत् का आरम्भ हो रहा है।)

(जीवन की इस नवीन बेला में मेरे लिए नवीन पुष्प रूपी जगत् के पदार्थों, विश्वासों, आदर्शों आदि का) नया रूप, (उनमें) नयी सुगन्ध, नया रङ्ग (ढङ्ग), नया माधुर्य, नया पराग (मिल रहा है। उनसे) नयी आशा, (उनके प्रति) नया (और) सदैव स्थायी अभिलाष होता है। (इसका परिणाम यह है कि मेरी वाणी से) नये गीतों की गूँज (निकलती है जिसमें मेरी अपने पहले की रचनाओं से नितान्त) नवीन भाव (और उनमें अप्रयुक्त) नये छन्द (नयी शैली में रचे गीत दिखलायी पड़ेंगे।)

(अब) ये (भाव रूपी) पक्षी, हाँ ये चिर सौन्दर्य-पूर्ण, सदैव से सुन्दर (भाव के) पक्षी मेरे हृदय के लता-मण्डप को (अपने मधुर कलरव से) परिपूर्ण (और) व्याप्त करते हुए जाग पड़े हैं, झुण्ड के झुण्ड जाग पड़े हैं। (अर्थात् मेरे हृदय में चिर सुन्दर भाव उठ रहे हैं। उनके व्यक्त होने से हृदय में मधुर रव गूँज रहा है—वही गीत बन कर प्रकट होने के लिए छटपटाता है।)

दोष—कवि ने सुकुमारता और मनोहरता के आधिक्य का आरोप करके भोर को सातवीं पंक्ति में स्त्रीलिंग में प्रत्युक्त किया है। यह व्याकरण-विरुद्ध (च्युत संस्कृत) दोष है।

अलङ्कार—इस गीत में प्रभात में पक्षियों के जागरण के द्वारा कवि के भावों के उदय का रूपकात्मक वर्णन है।

भाव-साम्य = 'किस स्वर्ण किरण···सुख से विभोर' में कवि की प्रसिद्ध कविता 'प्रथम रश्मि' की 'प्रथम रश्मि का आना रङ्गिणि तूने कैसे पहचाना' इस उक्ति को और भी सुन्दर ढंग से पल्लवित किया गया है।

चाँदनी

[१६] जग के दुख-दैन्य-शयन पर

शब्दार्थ—**शयन** = शय्या, बिछौना। **लता**—यह शब्द भुज, बाहु, भ्रू, देह आदि शब्दों के अन्त में लग कर उनमें सुन्दरता, क्षीणता आदि सूचित करता है। अतः **देहलता** का अभिप्राय हुआ सुन्दर, सुकुमार और क्षीण देह। **विवसना** = जो वस्त्र न पहने हो, दिगम्बरा, नंगी। **स्वर्ण-भोर** = सोने का सबेरा; आशा, उल्लास आदि के सूचक नवजीवन का प्रारम्भकाल। **बाला** = युवती। **वर** = पति, दूल्हा।

सङ्केत—चाँदनी को सामान्यतया उल्लास का प्रतीक मान कर कवि

अपने भाव व्यक्त किया करते हैं और इस संग्रह के इकतालीसवें गीत में इस कवि ने भी ऐसा ही किया है। परन्तु प्रस्तुत गीत में उसका तपस्विनी का-सा है रूप चित्रित है। वह जगत् के दुःख और दैन्य को दूर करके उसको नव-जीवन प्रदान करने के लिए तपस्या कर रही है। यह वर्णन पौ फटने के समय धूमिल पड़ी चाँदनी का है।

व्याख्या—(सुवर्ण कान्त, क्षीण चाँदनी को देख कर उसमें रोगिणी के से पीले शरीर का साम्य मान कर कवि कहता है कि) संसार की वेदना (और) दीनता (रूपी) शय्या के ऊपर यह (तपस्या में लगी रहने के कारण क्षीण और पीली पड़ी देह वाली) रोगिणी (मेरे) जीवन (की) युवती (रूपी चाँदनी रात में एकान्त साधना में निमग्न न जाने) कब से जाग रही है और (विश्व की आर्त्तता से दुःखी हो कर ओस के बिन्दुओं के रूप में अपने) आँसुओं की झड़ी चुपचाप लगाये हुए (बरसा रही) है।

(अब सुनहले वर्ण की और झिलमिल जैसी पतली चाँदनी में तपस्विनी के शरीर और उसकी दशा का सादृश्य निरूपित करता हुआ कवि कहता है कि निरन्तर तप करते-करते उसकी) पीली पड़ी, अशक्त (और) कोमल दुबली-पतली (सौन्दर्य, सौकुमार्य और क्षीणत्व पूर्ण) शरीर-लता (तप की क्लान्ति से) मुरझाई हुई दिगम्बरा (और नंगी होने के कारण) लज्जा से (अपने में ही) सिमटी (सिकुड़ी तथा) सन्न (निश्चेष्ट अपनी अत्यन्त क्षीण) साँसों में समायी हुई है—उसकी अत्यन्त मन्द मन्द साँस चल रही है। (उसके जीवन का चिह्न-

मात्र अवशिष्ट रह गया है—वह तप से इतनी अधिक गल गयी है। अभिप्राय यह कि रात में पूर्ण निस्तब्धता है। इससे हवा के बहुत ही धीमे धीमे में चलने की साँय साँय ही मानो चाँदनी का क्षीण श्वास है। चाँदनी बहुत ही स्वच्छ है। मानो वह वस्त्र-विहीना तपस्विनी नारी है। उसका वर्ण स्वर्ण जैसा हलका पीला है। यही तपोनिष्ठ नारी का पीला पड़ा शरीर है। कवि अपने चिन्ताकुल मन की उदासी का आरोप चाँदनी में करता है। इससे उसमें तपस्विनी की क्लान्त देह की झलक देख कर उसको कुम्हलायी, अशक्त और पीली कहता है।)

(चाँदनी के जगत् की वेदना की संवेदना से तप करते करते क्षीण हो जाने का आगे वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उसके शरीर का) अङ्ग-अङ्ग, (उसका गौर) वर्ण (और उसका उभड़ा हुआ) यौवन (सब) मलीन (पड़ गया) है। वह चिर (काल से) निःशब्द है। (उसकी) आँखें नीचे की ओर झुकी हैं (और) उनमें (विषाद के) आँसू छलछला रहे हैं। संसार के (प्राणियों के) दुःख से (संवेदना के कारण) (उस चाँदनी की) छाती फट गयी है। उसके जीवन में (एक प्रकार से अब और कुछ नहीं बच रहा) केवल मृत्यु ही शेष है—उसके मरने भर की देर है, वह मृतप्राय है। (यह है उषा-काल में चाँदनी के प्रायः अन्त समय की दशा।)

(अब वह अन्तिम साँसे ले रही है। फिर भी दम नहीं तोड़ रही। क्यों ? ऐसा प्रतीत होता है कि) वह तपस्विनी जगत् की युवती (रूपी चन्द्रिका प्रभात काल के निकट आने पर) संसार

के प्रकाश से युक्त हो जाने वाले क्षेत्र में सुनहला सबेरा (मङ्गल, सुख और उल्लास से पूर्ण जीवन के आरम्भ की बेला) आने और (उस शुभ मुहूर्त में अपने लिए) नये जीवन के पति (नव-जीवन प्रदान करने वाले सूर्यदेव रूपी दूल्हे) को पाने के लिए (इस अन्तिम क्षण में प्राण छोड़ने से) रुकी हुई (उसकी प्रतीक्षा कर रही) है। (तात्पर्य यह कि चाँदनी के समाप्त हो जाने का समय बहुत ही निकट है और सूर्य उसको आत्मसात् कर के उसको पुनः नये रूप में प्रकट करेगा। कारण, सूर्य के प्रकाश के प्रतिबिम्ब से ही चन्द्रमा की यह ज्योत्स्ना उत्पन्न होती है और अब दिन हो जाने पर यह उसी में विलीन हो जायगी—यही वर की प्राप्ति है—और सायं फिर नयी चमक-दमक—नये जीवन—के साथ अपनी छटा फैलायेगी।

विशेष—कवि ने प्रभात के कुछ पूर्व की फीकी चाँदनी में जगत् के विषादमय रूप की झलक दिखलायी है। फिर सूर्य के प्रकाश के आगमन की सूचना दे कर उस दुःख के अन्त और आनन्द के उदय के द्वारा अपना आशावाद प्रकट किया है। इसमें उसके अब तक के व्यक्तिगत एवं कवि जीवन की निराशामयी स्थिति के अन्त और आशामय जीवन के प्रारम्भ का भी संकेत स्पष्ट है। उसकी छायावाद की अस्पष्ट कविता, जिसमें निराशा की प्रधानता है अब नये विश्वास के साथ अपना नया रूप धारण करने जा रही है। आगे से उसकी कविता के स्वर में जगत् को उज्ज्वल रूप में देखने का प्रयास होगा।

दोष—सातवीं पंक्ति—विवसना, लाज में लिपटी—में 'विवसना लाज' का प्रवाह ठीक न होने से छन्दोभङ्ग दोष है।

अलङ्कार—इस गीत में मन्द, फीकी और प्रभाहीन चाँदनी में तपस्विनी नारी का रूपक दर्शनीय है।

मानव

[१७] तुम मेरे मन के मानव

शब्दार्थ—**कनी**=हीरे की कनी । **सहज**=सह-ज, साथ ही उत्पन्न, जन्म से ही, स्वाभाविक रूप में ।

सङ्केत—इस गीत में कवि अपने जीवन और अपनी कविता के लिए स्थिर किये आदर्श का उल्लेख खुल कर करता है । वह सुख-दुःख और हर्ष-विषाद दोनों से परिपूर्ण मानव-जीवन से प्रेम करके उसके प्रति संवेदनशील होता है और मानव-प्रेम तथा मानव-हित ही अपने जीवन का ध्येय निश्चित करता है ।

व्याख्या—(कवि की मानव के प्रति उक्ति है कि) हे मानव, तुम मेरे मन के (वरेण्य, प्रिय वा इष्ट) हो, मेरे गीतों (कविता) के गान (विषय) हो, मेरे (भावों के गीत के रूप में उच्छ्वसित) हृदय की धड़कन हो (तुम्हारे रूप में मेरा हृदय ही भावों से उद्वेलित होता है और) तुम मेरे बहुत ही पुरातन काल से परिचित हो । (तुमसे चिरकालीन साहचर्य के कारण तुम्हारे प्रति मेरे मन में स्थायी रूप से प्रेम सञ्चित है । इससे तुम्हारी ओर आज मेरा मन स्वभावतया खिंच रहा है ।)

तुम (अपने प्रति) मोहित मेरे (इन) नेत्रों के लिए (इनको प्रकाश देने वाली) दिव्य (उज्ज्वल) सुन्दर (वा प्रिय) कणिका (हीरे की कनी) हो, मुख की मुसकराहट की कोमल रेख हो और करुणा के सुकुमार अश्रु हो । (अर्थात् तुम्हारे प्रति मेरे नेत्र मुग्ध हैं । इनको तुमसे दिव्य ज्योति मिलती है—इन्हें तुममें दिव्य रूप की झलक प्राप्त होती है । तुममें मेरे नेत्र आनन्द की

क्षीण झलक पाते हैं और तुमको देख कर ही मेरे हृदय में करुणा के भाव उठते हैं और ये नेत्र छल-छला आते हैं। तुम्हीं मेरे मन में आनन्द और विषाद दोनों के भाव उत्पन्न करने वाले उद्दीपन विभाव हो।)

तुम्हारा (उल्लास से बिहँसता हुआ) मुँह देख कर (प्रकृति के) फूलों ने (भी प्रसन्न हो कर) तुमसे (ही) थोड़ा-थोड़ा मुसकाना—कुछ-कुछ खिल कर धीमे-धीमे खिलना—सीखा है। (तुम्हारे विषण्ण नेत्रों से निकले आँसुओं की झड़ी देख कर ही आकाश के) तारों ने (अपने) नेत्रों में जल भर कर (मन में) करुणा (उत्पन्न करने वाली अपनी) किरणों को (पृथ्वी पर) बरसाना सीखा है। (अभिप्राय यह कि मानव के उल्लास को देख कर ही कवि फूलों के खिलने में हँसी का आरोप करता है। और मानव का रोना देख कर मानवीकरण के द्वारा अचेतन तारों की शीतल किरणों में आँसुओं की करुणापूर्ण आर्द्रता का काल्पनिक अनुभव करता है।)

(तुमको स्नेह से प्रसन्न हो हँसते-हँसते) परस्पर मिलते-भेंटते देख कर ही (सरोवर, नदी वा सागर की) प्रसन्न वदन लहरों ने एक-दूसरे से मिल कर अपने को मिटाना (एक हो जाना) सीखा है। (तुम्हारा प्रेम में विभोर हो कर मस्त गाना सुन कर ही) भ्रमर ने अपने प्राणों के लिए अभीष्ट पराग पी कर प्रेम के मनोहर गीत गाना सीखा है। (आशय यह कि मानव को प्रेम से उच्छ्वसित हो कर आपस में भेंटते हुए दो-शरीर एक प्राण होते और मत्त हो कर गाते हुए देख कर ही कवि लहरों में

परस्पर मिलन और भ्रमर के गुञ्जार में प्रेम-गान का आरोप करता है।)

(तुम) इस भूमण्डल की (शोभा को बढ़ाने के लिए नील आकाश को अपनी सुषमा से सजा कर सुन्दर बनाने वाली) तारक-माला हो। (तुम इस) जगत् के वसन्त के ऐश्वर्य हो। (अर्थात् तुमसे यह पृथ्वी सुशोभित होती है और तुम इसके सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य के सब से श्रेष्ठ रूप हो।) तुम जन्म से (स्वाभाविक रूप में) ही सत्य (और) सुन्दर हो, चिर काल से (तुम्ही) आदि हो, (और अनादि वा पुरातन होते हुए भी तुम) चिर नवीन हो। (अर्थात् तुम व्यष्टि रूप में सान्त और समष्टि रूप में अनन्त होते हुए भी सदैव नवीन रहते हो। तुम्हारा अस्तित्व आदि सृष्टि से है, फिर भी तुम कभी पुराने नहीं होते, सदा नवीन बने रहते हो। तुम में नित्य नयापन रहता है। तुम्हारे विषय में अनादिकाल से कवि अपने भाव व्यक्त करता आ रहा है, फिर भी तुम उसके मन में नित्य नये भाव उत्पन्न किया करते हो।)

हे सौन्दर्य (शोभा) के नये बालक (नयी सुन्दरता के नव-जात प्रतीक बन कर) तुम वसंत के (नवीन विकास और सुषमा से पूर्ण) वन रूपी मेरे हृदय (के नये भावों और कवित्व की सृष्टि) में खिलो। (उस मन रूपी मधुवन में अपने स्पर्श से) नये नये श्वास रूपी सुगन्ध (से पूर्ण पवन के द्वारा) नवीन मुख (के दर्शन) के सुख की वर्षा करो। (आशय यह कि वसन्त के नव विकास के समय वन में रंग-बिरंगे अगणित फूलों के सदृश मेरे मन में

इस समय नये नये सुन्दर भाव प्रकाशित हो रहे हैं। तुम उनके लिए नवजात शिशु के समान अपने नवीन रूप में उद्दीपन बनो और मेरे मन में अपनी नयी आकृति के दर्शन से सुख देते हुए नया श्वास वा प्रेरणा उत्पन्न करो, जिससे मैं उल्लसित हो कर जो काव्य-रचना करूँ वह जगत् में सद्भाव, सद्विचार और सद्रूप की सुवासित सृष्टि करे।)

(इस प्रकार) मैं (मानव मात्र के) मन (रूपी पुष्प) में (विद्यमान) नये नये (भाव, विचार वा आदर्श रूपी) पराग का पान करके (भ्रमर के सदृश मत्त हो जाऊँ और उसी की नाईं) नित्य नये नये स्वर में गुञ्जार करूँ (नये नये सुन्दर गीत लिखूँ। इतना ही नहीं, उस अपार पराग-सागर में अपने) प्राणों के (मधुप के) पंख डुबा कर जीवन के मकरन्द (वा शहद) में मिलकर उसके साथ एक हो जाऊँ। (अर्थात् तुम्हारे हृदय में जो सुन्दर भाव वा विचार उठ रहे हैं उनको ही सब ओर से एकत्र करके मैं अपने मन को आनन्द से परिपूर्ण कर उन्हीं में एकाकार हो जाऊँ। मेरे मन में जो भाव उठें उनमें समस्त मानव जाति के हृदय में उठने वाले भावों, विचारों आदि की समष्टि हो। तात्पर्य यह कि कवि के हृदय में मानव मात्र के सुन्दर भाव प्रतिष्ठित हों और वह उनकी संवेदना से उत्पन्न कविता करे। उसकी कविता में मानव का बाह्य एवं आन्तरिक सौन्दर्य प्रस्फुटित हो।)

दोष—'सुख के स्मिति की मृदु-रेखा' में 'सुख के स्मिति' का प्रयोग व्याकरण-विरुद्ध है। स्मिति स्त्रीलिङ्ग-वाचक है, अतः 'सुख की स्मिति' होना चाहिए।

अलङ्कार—रूपक।

[१८] झर गई कली, झर गई कली ।

शब्दार्थ—**चल-सरित-पुलिन**=बहती हुई नदी का किनारा। **सौरभ से सहज-बसी**=स्वाभाविक रूप में, जन्म से ही सुगन्ध से युक्त थी। (**बसना**=सुगन्ध की पुट से प्रत्येक परत में सुवास का समा जाना।)

सङ्केत—इस गीत में कवि ने नदी के किनारे उगे हुए किसी फूल की ऐसी कली का वर्णन किया है जो प्रायः खिलते ही पानी में गिर कर विलीन हो गयी। सम्भवतः यह किसी ऐसी सुन्दरी के जीवन के करुणापूर्ण असामयिक अन्त का प्रतीकात्मक परिचय है जो यौवन के आरम्भकाल में ही या तो अपने जीवन से हाथ धो बैठी थी अथवा जो किसी अन्य को प्राप्त हो कर किसी व्यक्ति (अथवा इसको कोई कवि का आत्माभिव्यञ्जन माने तो उसके मतानुसार कवि ही) की आशाओं पर पानी फेरने का कारण बनी थी।

व्याख्या—कली (पूर्ण रूपेण विकसित होने और अपने सुवास को वायुमण्डल में प्रसारित कर सकने के पहले ही काल-गति से अपने वृन्त से असमय ही) गिर गयी, (हाँ,) गिर गयी। वह बहती हुई नदी (जगत्-सरिता) के किनारे (के पौधे वा वृक्ष में) विलसित हुई थी। (अपने) अन्तस्तल में (उपस्थित) सुगन्ध से स्वाभाविक रूप में ही भीनी हुई थी (उसके भीतर जन्म के साथ ही जो सुवास उत्पन्न हुआ था उससे वह पूर्णतया सिक्त थी। वह) सरल प्रकृति वाली (कली अभी) प्रभात में (अपने जीवन के आरम्भ में अथवा सबेरे पहर) ही तो खिली थी। (और पूर्ण रूप से विकच हो न सकी थी कि नदी के प्रवहमान) जल में कूद कर (उसके साथ बहती हुई कहीं—अज्ञात स्थल को) चली गयी।

[यदि कली से किसी कुमारिका का संकेत ग्रहण करना हो तो अभिप्राय यह होगा कि वह सरल प्रकृति की बाला संसार के छल-छिद्रों से मुक्त स्वाभाविक सद्गुणों से युक्त थी। उसने जीवन-सरिता का प्रवाह देखा और उसमें आकृष्ट हो कर कूद पड़ी। जीवन की धारा उसको बहा ले गयी। वह अपने रूप-यौवन का चरम विकास देख सकने के पहले ही किसी फेर (अथवा किसी के हाथ) में पड़ कर कहाँ से कहाँ चली गयी।]

(कलिका के जल-प्रवाह में आ कर गिरते ही सरिता की) लहर (उसकी ओर बढ़ कर उसका मुँह) चूमने (उसके) अधरों (का रस पान करने के उद्देश्य से उन) के ऊपर (अपने) अधर रखने (और अपने) फेन के (फेन रूपी) मोती से (उस कली का) मुँह भरने के लिए (आगे) आयी। उसके इस प्रकार के प्रेम के) अति वेगवान (आवेशपूर्ण आलिङ्गन से प्राप्त) सुख के द्वारा (वह भोलीभाली कली) धोखे में अपहृत हो गयी।

[ज्योंही वह कुमारी प्रलोभन में पड़ कर आगे बढ़ी त्योंही वासना पूर्ण उमङ्ग के छलनामय दिखावे को प्रेम का सच्चा रूप समझ वह उसके चक्कर में आ गयी। उसका सब कुछ जाता रहा।]

(अब कवि प्रलोभन की उन लहरों की वस्तुस्थिति का परिचय देते हुए कहता है कि यह सरिता की) लहर आती जाती रहती है, (कभी स्थिर नहीं रहती—जम कर किसी से प्रेम नहीं करती।) कौन सी (लहर) कब, किसके पास (स्थायी रूप से प्रेम करने के लिए) रुकी है ? (इसका तो स्वभाव ही अस्थिर

है। इस बात को इस भोली कली ने नहीं समझा था। इससे यह तो इसके धोखे में आ गयी, किन्तु इसको छोड़ और) कितनी ही कलियाँ (भी तो इसी के समीप) प्रसरित हुईं; (वे) सब (आपस में अथवा इससे) क्रीडारत हुईं, (अपने वृन्त पर) हिलीं-डुलीं भी, किन्तु सँभली रहीं, गिर कर इसमें नहीं पड़ीं। (अर्थात् यही कली ऐसी सरला थी कि यह इस सरिता की उमड़ती हुई लहर की छलना न समझ सकी और इसके फेर में पड़ गयी। दूसरी कलियाँ इसके वास्तविक रूप को जानती थीं। इससे उनके ऊपर इसके प्रलोभन और जाल का प्रभाव नहीं पड़ा। वे अपनी रक्षा करने में सफल हुईं।)

[छलिया की लुभाने वाली क्रियाओं का प्रभाव स्थायी नहीं होता उसकी अस्थिरता जिसने समझ ली है उसका कुछ नहीं बिगड़ पाता। इसने ऐसा नहीं समझा। इससे यह अपने को गँवा बैठी।]

(अब कवि उस भोली कली के सम्बन्ध में पछताते हुए कहता है कि उसको) अपने वृन्त पर खिलना (और वहीं स्थिर एवं दृढ रहना ही उचित) था। (वहीं रहते हुए समीप की नदी की) नयी नयी लहरों से (नित्य ही) मिलना (ठीक) था। (उन आती-जाती लहरों के आकर्षण में न पड़ कर) अपना सुख और दुःख (एक-दूसरे से) स्वाभाविक ढंग से ही बदलना (चाहिये) था। (परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। वह अपने स्थान में दृढ नहीं रह सकी। इसका फल यह हुआ कि वह) अपना घर (विकास-स्थल) छोड़ कर (नदी के पानी में) बह (निकली। और न जाने कहाँ जा पहुँची।)

[उचित यह था कि वह कुमारी अपने ही स्थान में रह कर वहीं से प्रलोभनों को दूर-दूर से देखती रहती और उनकी ओर लोभभरी प्रवृत्ति न करती। मिलन-बिछोह का जो सुख-दुःख मिलता उसको सहज रूप से परस्पर बदल कर जीवन का संतुलन न खोती। परन्तु वह ऐसा न कर सकी। फल यह हुआ कि—वह बह गयी।]

(अन्त में कवि कहता है कि इसमें संदेह नहीं कि इस) संसार का जीवन तो अदान-प्रदान है। (यह लेना और देना तो यहाँ की स्वाभाविक गति है। परन्तु यहाँ के) सब प्राणियों का व्यक्तित्व ही उनका अपना है। (वह न बच सका, तो फिर उनके पास रहा ही क्या ? शेष जो कुछ भी है उससे अपने को क्या मिलने का ? उस बेचारी कली का यही हाल हुआ। वह) अपनी आत्मा की चिरस्थायी सम्पत्ति (व्यक्तित्व) गँवा कर लहरों के फेर में पड़ उन (लहरों) के द्वारा ही आत्मसात कर ली गयी—उनमें ही विलीन हो गयी।

[इस जगत् में लोग देते और लेते रहते हैं। यही इसका स्वाभाविक रूप है। कुमारी ने भी अपना सर्वस्व समर्पण किया और किसी दूसरे का कुछ सच्चा झूठा प्रेम प्राप्त किया। फिर भी उसे समझना चाहिये था कि संसार का यह ढर्रा ठीक नहीं। यहाँ आत्मस्वरूप की रक्षा ही प्रधान है। उसने इस तत्व को नहीं समझा। फल यह हुआ कि किसी प्रलोभन में पड़ वह आत्म-कल्याण से हाथ धो बैठी। परिणामतः वह उन प्रलोभनों में फँस कर कहीं की न रही।]

विचारणीय—क्या यह किसी प्राकृतिक व्यापार को देख कर जीवन के दार्शनिक पक्ष का कवित्वपूर्ण वर्णन मात्र है अथवा यह किसी ऐसे व्यक्ति के जीवन का प्रतीक है जिसके इस प्रकार के आचरण का प्रभाव कवि ने अनुभव किया है और इस प्रकार यह उनके जीवन की मर्म-व्यथा है? इसका उत्तर कवि दें अथवा उनके विश्वस्त आलोचक। यह टिप्पणीकार केवल जिज्ञासा बढ़ाकर मौन होता है।

दोष—निज वृन्त पर उसे खिलना था—इस चरण में छन्दोभङ्ग है।

भावी पत्नी के प्रति

[१९] **प्रिये, प्राणों की प्राण!**

शब्दार्थ—**असमान**=जिसके समान दूसरी न हो, अद्वितीय। **सकाल**=प्रभात। **वपुमान**=सुन्दर और हृष्ट-पुष्ट शरीरवाली। **अस्फुट**=जो खिली न हो, अविकच। **तन्वि**=हे दुबली वा कोमल अङ्गोंवाली। **परिमाण**=नाप या तौल। यहाँ इसका अभिप्राय 'स्थूल' है। **स्वप्न-संसृति**=सपने का संसार जो वास्तविक न होते हुए भी बहुत आकर्षक होता है। **सोल्लास**=उल्लास के साथ। **व्योम-बाला**=आकाश की सुन्दरी (चाँद)। (कवि ने, चन्द्रमा में सुकुमारता और सुन्दरता के आधिक्य के कारण उसको स्त्री के रूप में ग्रहण किया है। यद्यपि हिन्दी में वह पुरुष के रूप में ही गृहीत है। फिर भी कवि की मान्यता को ध्यान में रखने से ही इस वाक्य के अर्थ का बोध होगा। इसी प्रकार उसने पल्लव-प्रान्त में प्रान्त को भी अपने विचारों में स्त्रीलिंग के रूप में ग्रहण किया है।) **लास**=नारी के द्वारा वह नृत्य जिसमें प्रेम की उमङ्ग भरी होती है। **अधखिले अंग**=शरीर के विविध अवयव जिनमें यौवन का पूर्ण विकास न हुआ हो। **लघु-भार**=हलकी। **खग-बाल**=पक्षियों के बच्चे, चिरौटे। **मृदूर्मिल**=मृदु-उर्मिल, कोमल लहरोंवाली। **सोभार**=स+उभार, जिसमें उभार हो, उभारदार। **जड़ित-पद**=स्थिर गति। **छुईमुई**=लाजवन्ती लता, जिसके छोटे छोटे पत्ते अपने समीप किसी

की उँगलियाँ आते ही अथवा उनके द्वारा छुए जाते ही सिमट कर आपस में मिल जाते हैं। कविगण इसको लजीली नवोढा युवती के उपमान के रूप में प्रयुक्त करते हैं। **मधु-वार, नव-वार**=प्रिय-क्षण, नया-क्षण या समय, अवसर। **म्रियमाण**=मरे हुए के समान।

सङ्केत—इस कविता में युवक कवि अपनी भावना के अनुसार अभीष्ट जीवन-सङ्गिनी की काव्य-सृष्टि करता है। उसके मन में जैसी पत्नी की आकांक्षा है यह उसका रूप और गुण समन्वित शब्द-चित्र है। अपने भावी जीवन में भी इस कल्पना की सहधर्मिणी को प्राप्त कर सकना तो दूर, कोई भी सङ्गिनी न पाने वाला यह कवि यहाँ मानव अभिलाष को प्रत्यक्ष रूप देने में सफल प्रतीत होता है। सहृदय मानव मात्र की कामना कुछ ऐसी ही पत्नी की हो सकती है।

व्याख्या—(कवि अपने मन की अभिलषित और भविष्यत् में प्राप्य पत्नी को सम्बोधित करते हुए कहता है कि मेरे) प्राणों की जीवनी शक्ति, प्रिये, (मेरे निमित्त रची हुई) दैवी-सृष्टि (अथवा दैवी योजना,) तुम (भविष्यत् में मुझे उपलब्ध होने के लिए इस समय) न जाने किस अज्ञात (पितृ-) गृह में छिपी हुई हो। (तुम मेरे हृदय-लक्ष्य को बेधने के लिए) नवीन कलियों (की नुकीली कोर) के सदृश बाण हो। कामदेव की अलौकिक सुन्दरी पत्नी) रति बालिका के सदृश अनुपम और अद्वितीय हो। (अभी) मैं तुम्हें जानता नहीं कि तुम कौन हो, कहाँ रहती हो (इस प्रकार नितान्त) अज्ञात (हो)। प्रिये, (मेरे) जीवन की प्राण प्रिये! (अपने जीवन के) प्रभात (शैशवकाल) में (तुम अपनी) माता के आँचल (रूपी झूले) में झूलती हुई (उसके तुम्हारे प्रति उमड़ते हुए उच्छ्वसित)

हृदय की सुकुमार (अथवा मन्द-मन्द) धड़कन के सदृश सुन्दर एवं पुष्ट शरीर को (हुई) । हे (मेरी) सहेली, प्राणप्रिया, प्रियतमा, (फिर तुम ऐसे) दीपक की लौ के समान चिरकाल तक (माँ के) प्रेम के सुख के भीतर बढ़ती रहीं जिसमें किसी प्रकार का दोष न था । (सामान्य दीप-शिखा में कालिमा होती है, किन्तु तुम तो सब प्रकार से निष्कलङ्क थीं, पूर्णतया निर्दोष थीं) तुम कौन से घर, कौन से विशाल नगर को (अपनी निष्कलङ्क दीप-ज्योति से) प्रकाशित और आभामय बना रही हो, (जिस प्रकाश में अपने को अर्पित करने के लिए) मेरे मन और प्राण पतिंगे के सदृश उतावले हो रहे हैं ?

हे (मेरे) प्राणों की (भी) जीवनदायिनी प्रिये, (तुम) नये (प्रारम्भकालीन) वसन्त ऋतु के (पुष्पित) लता-मण्डप में प्रभात बेला (निकली हुई) पहली कली के सदृश अविकच (जिसका पूर्ण विकास न हुआ हो ऐसे) शरीर (की हो) । हे तन्वङ्गी, (तुम) नीले आकाश रूपी (अपने) भवन के उस विभाग में जहाँ नारियाँ रहती हैं (चन्द्रमा की) द्वितीया की (क्षीण) कला के समान नवजन्मा हो । हे मेरे प्राण, तुम माधुरी और कोमलता की सी हो जिसका क्रमशः स्वाद और स्पर्श नहीं विदित है । (अर्थात् जिस मधुरता का स्वाद और जिस कोमलता का स्पर्श अभी तक नहीं हुआ, जिसका बोध मन की कल्पना से ही हुआ है तुम ठीक वैसी ही हो । अभी तुम्हारी इन्द्रियजन्य अनुभूति नहीं हुई, मन में ही तुम्हारी कल्पना की गयी है ।) परन्तु कह नहीं सकता कि (तुम) मन की उद्भावना (मात्र)

हो अथवा स्थूल हो।

हे (मेरे) प्राणों की प्राण, प्रिये, (तुम मेरे) हृदय (के नेत्रों अर्थात् मानसिक कल्पना) की पलकों में निष्पन्द स्वप्न लोक की सी सुन्दरता की मूर्त्ति हो। (अर्थात् कल्पना के द्वारा मेरे मन की निर्मित अलौकिक अतीव सुन्दरतामयी हो।) तुम मेरी (बाल्य-कालीन (अथवा बालक की) कोमल भावना के भीतर नयी परी के समान असंख्य रूप धारण किया करती हो। (अर्थात् मेरे बाल सुलभ भावुक मन में बहिश्त की परी के अगणित अलौकिक रूपों के सदृश तुम्हारे नये नये अपरिमित रूपों की सृष्टि हुआ करती है।) हे (यौवन के पूर्व की वय वाली) किशोरी, तुम्हारी सुन्दर प्यारी मूर्ति लज्जा से सिमटी हुई उषा की नाईं है। (जैसे अपने प्रियतम सूर्य के आगमन से नवीना उषा के गालों में लाज की ललाई दौड़ जाती है वैसे ही तुम्हारी भी दशा है। जैसे प्रियतम के समीप प्रथमागमन के समय तुम लाज से सिमटी हुई दिखलायी पड़ रही हो।)

हे (मेरी) प्रिये, (मेरे) प्राणों की प्राण, जब (मुझे) तुम्हारा प्यारा (मन को लुभानेवाला) ध्यान (स्मरण) आता है (तब कलियों और (उनके विकच होने पर उनके पराग के पान करने की आशा में उनके ऊपर पहले से ही मँडराने वाले) भौंरों से परिपूर्ण कोमल (पदार्थों से युक्त) वसन्त, (उसका) स्वर्ण (कल्पना में आ सकने वाली समस्त शोभा से युक्त) सुख, सुषमा, (और) सुगन्ध का सार (निचोड़ तथा) मानसिक वृत्तियों की माधुर्यपूर्ण क्रीडा (मन में उठने वाले स्थायी एवं

सञ्चारी भावों का रुचिकर उदय और विकास एवं) जगत् की सुन्दरता ही सुन्दरता (और) चन्द्रमा की (ज्योत्स्ना से परिपूर्ण) शरद् (ऋतु) का (मनोरम) आकाश (मेरी) आँखों में भर जाता है। (अर्थात् तुम्हारा स्मरण आते ही मेरी मानसिक दृष्टि में तुम्हारी जो मूर्ति अङ्कित होती है उसमें वासन्ती प्रकृति और शारदीय आकाश का ही नहीं सम्पूर्ण संसार का जितना भी सौन्दर्य है वह सब निहित प्रतीत होता है। ऐसा जान पड़ता है जैसे मैं अखिल विश्व की सुन्दरता को एक ही व्यक्ति में सन्निविष्ट पाता हूँ। इस प्रकार मेरी आँखें तुममें समस्त जगत् के सौन्दर्य की समष्टि देखती हैं।)

हे प्रिये, (हे मेरे) प्राणों की जीवनदात्री, (सूर्य की किरणों के पड़ने से लाल) पत्तों (के रूप) के लाल ओंठोंवाले प्रभात (के मुख) के मोतियों के सदृश (दाँतों से) हिलता हुआ ओस-विन्दु (रूपी) हास (अर्थात् प्रभात के रक्त-पल्लव रूपी ओंठों के हँसने के लिए खिलने से उनके ऊपर पड़ी ओस-कण रूपी दन्तावलि) तथा इन्द्र धनुष (के सतरंगी) वस्त्र से (अपनी) देह आच्छादित करके (इन्द्र धनुष रूपी रंग-बिरंगी साड़ी पहन कर) नवीना बिजली (रूपिणी सुन्दरी) का वर्षा (-कालीन) प्रेम-नृत्य (देख कर, उनके सादृश्य से) तुम्हारी (मुसकान और नृत्य की भाव-भङ्गिमा की) सुन्दरता का अनुमान करके (मेरे) हृदय में तुरन्त ही (तुम्हारे हाल के) अर्द्ध-विकसित अवयवों का वसन्त खिल उठता है। (ज्योंही मैं प्रभात के रक्तिम पल्लवों में ओस की बूँदों को देखता हूँ त्योंही मुझे अनुमान हो जाता है

कि तुम्हारे ओंठों के भीतर से लिखखिलानेवाली हँसी का सौंदर्य कैसा होगा। जब मैं वर्षा ऋतु में इन्द्र-धनुष से आवृत बादलों के ऊपर बिजली की चमक देखता हूँ त्योंही रंग-बिरंगी साड़ी से सुसज्जित तुम्हारे गौर-शरीर के नर्तन की सुन्दरता का अनुमान कर लेता हूँ। ऐसे अवसर पर मेरे मन में तुम्हारे शरीर की उस सुषमा का ध्यान तुरन्त ही पूर्णरूप से आ जाता है जो यौवन के प्रथम-चरण में हो सकती है।)

हे मेरी प्राण प्रिये सुकुमारी, (मैं सोच रहा हूँ कि इस समय अपने पितृगृह में अपनी) मुसकराती हुई (प्रसन्न) सहेलियों के संग खेलती हुई तुम मूर्तिमती (वा रूपधारिणी = प्रत्यक्ष हुई) भोली भाली शिशुता की नाईं चञ्चल, सुकुमार लहरों में निमग्न (उन्हीं) लहरों के समान सुकुमार और हलकी (सूक्ष्म देह वाली) मनोहर गान (मधुर रव) करती हंसिनी के समान (जीवन के) सरोवर में स्वाभाविक ढंग से क्रीडा कर रही होगी। (अर्थात् जैसे सरोवर में हंसिनी कुरलती हुई विहार करती है वैसे ही आजकल अपने शैशव की स्वाभाविक चञ्चलता के साथ तुम अपनी सहेलियों के सहित निज पिता के घर आनन्दमग्न खेल रही होगी।)

हे प्रिये प्राणप्रिये, पवन (तुम्हारे) सुगन्ध (सने) कोमल (घने) बालों के जाल को (अपने स्पर्श से धीरे धीरे) खोल (सुलझा) कर (उनके सुवास को) प्रसन्नतापूर्वक सूँघ रहा होगा। (अर्थात् पवन में जो यह सुगन्ध है वह उसको तुम्हारे ही सुवासित कच-कलाप के स्पर्श से उपलब्ध है।) पक्षियों के (छोटे

छोटे) बच्चे उड़ते हुए (बाल्यकाल में तुम्हारे मधुर बोलने, खेलने और मन बहलानेवाली बातों को देख देख कर) मीठी मीठी बोली, क्रीडा और विनोद की शिक्षा तुमसे ही प्राप्त करते होंगे। (मेरी) प्राण, (तुम्हारे शिशुकाल के) छोटे छोटे पैरों की चञ्चलता को चूम कर जल के नये सोते (पृथ्वी के भीतर से) निकलते होंगे (और तुम्हारी) मुसकान (ही रूप धारण करके पौधों और पेड़ों की) कली बनती होगी। (अर्थात् पृथ्वी में जहाँ जहाँ चञ्चल गति से खेलते समय तुम्हारे चरण छू जाते होंगे वहीं वहीं उसको शीतल करने वाले भाव के सोते निकल आते होंगे—तुम्हारी इस प्रकार की चञ्चलता से लोगों के हृदय के शीतल भाव प्रकट होते होंगे—और तुम्हारी मुसकान ही कलियों के रूप में प्रत्यक्ष हो रही होगी—तुम्हीं से कलियों ने मन्द मन्द खिलना सीखा होगा।)

हे प्रिये, प्राणों की प्राण, जिस लघु सरोवर में मन्द मन्द लहरियाँ उठ रही हों उसमें (उगे हुए) ऐसे लाल कमलों के सदृश जिनका सम्पुट अभी नीचे की ओर है (विकास-काल समीप आने से जिसका मुख ऊपर की ओर नहीं हुआ); (भावों के प्रभाव से अपने अस्तित्व को भुला कर) मोहित (दशा में) कवि के हृदय (रूपी वीणा को झनझनाने के लिए उस) के तारों (सूक्ष्म वृत्तियों) को स्पर्श करके (उनसे निकले हुए) प्रेम के नये गीत के समान तुम्हारे उभरते हुए शैशव (तुम्हारी किशोरावस्था) में यौवन (स्वच्छ) स्पष्ट स्वप्न के सदृश, (तथा रहस्योद्घाटित) अचरज के समान (अपना) जीवन पा रहा

होगा। (तात्पर्य यह कि जब शैशव के अन्त में किशोरावस्था आ रही होगी तब तुम्हारे भीतर युवावस्था वैसे ही झलकने लगी होगी जैसे कोई अच्छा सपना प्रत्यक्ष होने लगा हो अथवा आश्चर्य की मानसिक दशा का अन्त हो कर भेद खुलने की स्थिति हो। उस समय तुम्हारे मन में छिपी यौवन की उमंग के प्रकट होने के चिह्न कुछ वैसे ही लक्षित होने लगे होंगे जैसे कमल की कली की दशा सूर्योदय के समय ऊपर उठ कर खिलने के पूर्व होती है और जैसे भाव-विभोर कवि के हृदय में प्रेम के गीत की गुनगुनाहट होने लगी हो।)

(इस प्रकार की अलौकिक सुन्दरी युवती को कल्पना के लोक में अपनी पत्नी के रूप में पा कर कवि उसको और अपनी पहली मिलन-बेला का चित्र अङ्कित करते हुए कहता है कि) हे मेरे प्राणों की प्रियतमा, मैं (तुमसे भविष्यत् में अपने उस) पहले-पहल होने वाले अज्ञात सम्मिलन (के विषय में क्या कहूँ जिसका समय अभी तक मुझको ज्ञात नहीं। वह कैसा सुखद समय होगा जब तुम मेरे समीप पहुँच कर) धड़कते हुए कोमल हृदय, (प्रेमातिरेक से हर्षित हो) रोमाञ्चित देह (और अज्ञात पुरुष के प्रथम दर्शन से) घबरायी हुई चाँदनी जैसी (शुभ्र मूर्ति मेरे सामने हिलेडुले और कुछ भी बोले बिना) चुपचाप (खड़ी होगी, तुम्हारे) पैर स्थिर होंगे (तुम आगे नहीं बढ़ रही होगी और (तुम्हारे) नेत्र-पल्लवों की पलकें (लज्जा से) झुकी होंगी। (उस समय तुम) माधुर्य में निश्चेष्ट जैसी, अज्ञात (यौवना), लज्जारूपी लाजवन्ती लता की सी (मेरे स्पर्श के

सामीप्य से) मुरझाई हुई (जहाँ की तहाँ खड़ी रह जाओगी और) मेरी प्राण, (तुम) मेरे पास न आ सकोगी। (मैं तुम्हारी इस अलौकिक लज्जालु छबि की आज कल्पना कर के उसके ऊपर मुग्ध हो रहा हूँ।)

(इस क्षणिक लज्जा को त्यागने के पश्चात्) हे (मेरी) प्रिये, प्राणों की प्राण, हे सुन्दरवदनि, वह प्रेम की माधुरी से पूर्ण घड़ी, वह प्रिय अवसर (कब आयेगा जब तुम झिझक छोड़ कर मेरे) हाथ में (अपना) कोमल हाथ रख दोगी (अर्थात् जब मैं तुम्हारा हाथ पकड़ कर अपनी ओर तुम्हें आकृष्ट करूँगा और) जब (मेरे और तुम्हारे मिलन में) समस्त स्त्रियों और पुरुषों का जगत् (जैसे) नये आनन्द के साथ नयी बार मिलेगा। (उस समय के दो प्राणियों के सम्मिलन में नर-नारी मात्र के मिलन का नया सुख सन्निविष्ट होगा। उसमें सम्पूर्ण नरों और नारियों के मिलन के सुख का नया रूप पहले पहल जैसा जान पड़ेगा। उस अवसर पर तुम्हारे) अधरों से (मेरे) अधर और तुम्हारे वक्षस्थल से (मेरा) हृदय-स्थल समान (हो कर—एकाकार, एकतन जैसे हो कर एवं तुम्हारे शरीर के) रोमाञ्च से (मेरे शरीर का) रोमाञ्च तथा (तुम्हारे) प्राणों से (मेरे) प्राण चुपचाप प्रेम की (आप बीती) कहानी कहेंगे। (अर्थात् उस क्षण हम दोनों अपने आलिङ्गन, रोमाञ्च और अभ्यन्तर के भावों के द्वारा परस्पर बातचीत किये बिना ही अपने-अपने मन के प्रेम का सारा वृत्तान्त एक-दूसरे के प्रति अभिव्यक्त कर देंगे।)

(इस प्रकार प्रेम की काल्पनिक आत्मविस्मृति का वर्णन

करते करते कवि की चेतना जगती है। उसका ध्यान अकस्मात् इस प्रेम-दशा की अस्थिरता और विनश्वरता की ओर जाता है। वह कह उठता है कि) अरे, प्रिये, प्राणप्यारी प्रिये, (मेरे और तुम्हारे) प्रेम की (इस) कहानी का आशय समझना (वा समझाना) बहुत ही कठिन है। जब आकाश रूपी हृदय में पवन श्वास के सदृश (अकस्मात्) बिना जाने ही रुक जायगा। (हृदय की गति बन्द हो जायगी), समय की प्रगति दिशाओं की (निर्निमेष अथवा एकटक) पलकों के समान स्थिर हो जायगी, (अर्थात् जब निःश्वास हो हम तुम अपने को भूल एकाकार हो समय की गति के ज्ञान से शून्य पूर्णतया आत्मविस्मृत हो जायँगे, तब) हे (मेरी) प्राणप्रिये, आकाश चिरकालीन विस्मरण से मरे हुए के समान (अचेतन वा निश्चेष्ट जैसा और) नील कमल के सदृश मलीन हो-हो कर पृथ्वी पर झुक आयेगा। (तात्पर्य यह कि मेरा और तुम्हारा उपरिकथित प्रणय-कलाप अधिक वा चिरकाल तक न चल पायेगा। इसका अन्त अकस्मात् ही हो जायगा। आकाश में पवन के रुकते ही बहुधा श्वास घुटने लगती है। ऐसे ही, हृदय की श्वास-प्रश्वास की क्रिया पहले से सूचित किये बिना ही एकदम बन्द होते ही यह प्रेम-लीला समाप्त हो जायगी। तब समय की गति अवरुद्ध हो जायगी—समय स्थिर जान पड़ेगा। समय न बीतेगा। ऐसा जान पड़ेगा कि आकाश विनष्ट हो कर पृथ्वी पर झुक आया है। सारे संसार में अन्धकार ही अन्धकार दिखलायी पड़ेगा।)

विशेष—इस प्रेमाकुल कविता में कवि ने अपनी मनचीती प्रेमिका

के रूप की कल्पना और उसके मिलन-सुख की आत्म-विस्मृति का मादक वर्णन करने के साथ ही प्रेम की क्षण-भंगुरता का भी विस्मरण नहीं किया। उसने अन्तिम छन्द के पूर्व तक अपनी प्रियतमा के क्रम विकास का बहुत ही सुन्दर ढंग से परिचय दे कर उससे प्रेमालिङ्गन का अननुभूत किन्तु अनुभूत-जैसे सुख का वर्णन किया है। साथ ही वह इस प्रेम के भोग की क्षणभंगुरता को भी नहीं भूला।

दोष—'अरुण अधरों की पल्लव-प्रात' में प्रात का, एवं 'व्योम-बाला का शरदाकाश' में अँगरेजी के अनुकरण के कारण चन्द्रमा के लिए व्योम-बाला का प्रयोग स्त्रीलिंग में होने से च्युत संस्कृत दोष है।

अलङ्कार—इस कविता में 'मधुरता, मृदुता सी तुम, प्राण! न जिसका स्वाद-स्पर्श कुछ ज्ञात' में क्रमालङ्कार है। 'नीलनभ-अन्तःपुर में, तन्वि! दूज की कला सदृश नवजात' में परम्परित रूपक से पुष्ट उपमा है। 'मृदुर्मिल सरसी···नव गान' में मालोपमा है। ऐसे ही, लहर ही-सी कोमल, हंसिनी सी, सशंकित ज्योत्स्ना सी, लाज की छुई मुई सी—में उपमा है।

[२०] कब से विलोकती तुमको

शब्दार्थ—**वातायन** = झरोखा।

संकेत—इस गीत में कवि की किसी कल्पनामयी चिर अभिलषित प्रेयसी के आगमन की प्रतीक्षा एवं उसकी निश्चिन्तता का विश्वास अभिव्यक्त है।

व्याख्या—हे (मेरी) प्रेमिका, (तुम्हारे देखने की उत्कण्ठा से नित्य प्रातःकाल) उषा (पूर्व दिशा के झरोखे से (मेरे घर के भीतर आ कर) तुमको कितने दिनों से देखती (खोजती) है। (तुम्हें न पा कर तुमसे) सूने (इस) घर के आँगन (में आ कर वहाँ) से (नित्य प्रति ही) सन्ध्या (निराशा से) उदास

हो कर लौट जाती है।

(तुम्हारे दर्शन के लिए ही) बेचैन (हो कर प्रतिक्षण) लघु सरोवर की लहरें (उससे) उठ कर तुमको ताका करती हैं। (तुम्हें ही ढूँढने के लिए प्रति पल चलने वाला) सुगन्धपूर्ण पवन (तुम्हें घर में नहीं देख पाता तब हताश हो कर) ठण्ढी ठण्ढी साँसे भर कर (अपनी विवशता से हाथ मलता और पछताता) रह जाता है।

(तुम्हारे ही दर्शन की आशा में पेड़ों और पौधों की) शाखाओं में (निकली हुई) कलियाँ मुँदी हैं (मुँह खोल कर हँसने के अवसर की प्रतीक्षा कर रही हैं), वासन्ती वन में (रह कर भी) कोयल (उल्लसित हो कर कूकती नहीं, किन्तु) चुप है। (कारण, जब तुमको देखेगी तभी वह उमंग से भर कर कूकेगी— इसी से इस समय वसन्त की पागल बनाने वाली सुषमा को पा कर भी वह प्रसन्न नहीं है। इसी प्रकार मेरे जैसे) कितने ही (वा बहुत से तुम्हारे प्रेमी कवियों के) प्राणों के गीत (उनके) मन के भीतर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं (कि जब तुम आओगी तभी हम प्रकट होंगे। अर्थात् बहुत से कवियों के मन में तुम्हारे प्रति प्रेमोद्गार उठ कर उनको बेचैन कर रहे हैं। तुम कब आओगी ? तुम्हारे आने पर ही कलियाँ खिलेंगी, कोयल कूकेगी और मैं गीत रचूँगा।)

तुम (शीघ्र ही अथवा कभी न कभी अपने इस घर में) आओगी इसी आशा में (आकाश के) तारे रात में (तुम्हें) निर्निमेष दृष्टि (से देखते रहते) हैं— (न जाने तुम

कब आ जाओ इसी से वे सारी रात जागते हुए तुम्हारे आने का मार्ग एकटक आँख से देखा करते हैं। ऐसे ही मेरे) जीवन के क्षण (स्थिर न हो कर निरन्तर इसी) इच्छा में चञ्चल (चलायमान और) सदैव नये रहते हैं (मुझे प्रतिक्षण नवीनता का अनुभव होता रहता है) कि तुम (अवश्यमेव) आओगी।

दोष—'तुम आओगी, आशा में', 'आओगी अभिलाषा में'—इन वाक्यांशों में 'आओगी' के बाद 'इस' का अध्याहार करना पड़ता है। इससे न्यूनपदत्व दोष माना जा सकता है। वैसे इधर इस प्रकार के वाक्यांशों का प्रयोग भी देखा जाता है। अतः इनको प्रयोग सम्मत भी कह सकते हैं। 'सौरभ-समीर' से अभिप्राय है 'सुरभित समीर'। अतः इस वाक्यांश का ठीक अर्थ लगाने के लिए 'सौरभ से भरा समीर' वाक्यांश बनाने के निमित्त 'से भरा' अपनी ओर से मिलाना पड़ता है। इससे यहाँ भी न्यूनपदत्व दोष है। 'ठहरे हैं तुमको'—में तुमको का प्रयोग अँगरेजी के 'फॉर यू' के बदले 'तुम्हारे लिए' के अर्थ में किया गया है। यह प्रयोग विचारणीय होने से च्युत संस्कृत दोष का कारण बन सकता है।

[२१] मुसकुरा दी थी क्या तुम, प्राण।

शब्दार्थ—विहान=सबेरे। **हिम-हास**=तुषार (पाला) की हँसी; ओस की श्वेत बूँदों का खिला हुआ रूप। **अवदात**=उज्ज्वल, निर्मल, स्वच्छ। **रुपहली**=चाँदी की सी, उज्ज्वल, श्वेत। **मर्म-पुकार**=मर्म को भेदनेवाली पुकार, मार्मिक पुकार; अपनी वेदना से अन्तःकरण को प्रभावित करने वाली कूक। **साभार**=आभार सहित, कृतज्ञतापूर्वक।

सङ्केत—इस गीत में प्रियतमा के मुसकराने का प्रभाव सृष्टि के सौन्दर्यपूर्ण पदार्थों पर दिखलाया गया है। साथ ही उसकी मुसकान को देख कर कोकिला बेचैन हो कर कूकने लगी है। यहाँ प्रियतमा को सामान्य

नारी के स्थान में सृष्टि की प्राण-शक्ति मानने से गीत का सौन्दर्य खिल उठेगा। साहित्य में हँसी का वर्ण श्वेत माना गया है। यहाँ भी प्रिया की हँसी प्रकृति में फूट पड़ी है। इसी से तुषार, कुन्द एवं अन्य श्वेत कलियों के साथ कुछ कुछ रक्ताभ पीपल की कलियों का प्रादुर्भाव हुआ है।

व्याख्या—मेरी प्राण (प्रिये), क्या तुम मुसकरायी थीं? क्या आज प्रातःकाल तुम मुसकरायी थीं? (तभी न तुम्हारी शुभ्र दन्तावलि के प्रतिबिम्ब के रूप में) आज घर, वन और उद्यान के पास (हरी हरी घास पर) ढेर का ढेर तुषार (बिन्दुओं) का हास लोट रहा है। (फैल रहा है अथवा मुग्ध हो कर स्थिर विराजमान है। और) आँगन में शुभ्र वर्ण वाली कुन्द कलियों का सुकुमार सबेरा खिल उठा है। (कुन्द की श्वेत रंग की कलियों को ले कर प्रभात मुसकरा रहा है।)

(अतः) हे मेरी प्राण (प्रिये), बोलो (उत्तर दो न, तुम) मुसकरायी थीं? तुम (आज) बिना जाने, सहज ही मुसकरायी थीं न? (तभी तुम्हारे मुसकराने का प्रतिबिम्ब शाद्वल के ऊपर ओस की बूँदों और आँगन में कुन्द की कलियों के रूप में आकार धारण कर प्रकट हुआ है।)

(तुम्हारी इसी उच्छ्वसित मुसकान के कारण प्रसन्नता से प्रकृति में) चारों ओर कोमल कलियों का मौन वार्तालाप व्याप्त है। (कलियाँ चारों ओर निकली हुई एक-दूसरे से सट रही हैं। वे अभी खिली नहीं। इस प्रकार मुँह बन्द करके वे चुपचाप परस्पर बातचीत करती प्रतीत होती हैं। और देखो, तुम्हारी इस प्रसन्नता से) रोमाञ्चित हो कर पीपल की शाखा (अधिकांश)

श्वेत कलियों से (और) ईषत् (अल्प, कुछ-कुछ, तनिक) लाल (आभा वाली कलियों) से भर गयी हैं। (अधिकतर श्वेत, किन्तु कुछ कुछ लाल नुकीली कलियों से हर्षोफुल्ल खड़े रोंगटों का साम्य होने से तुम्हारे मुसकराने से पीपल की पुलक सूचित होती है। इतना ही नहीं, हे) प्रिये, (तुम्हारी प्रसन्नता-सूचक मुसकान से मतवाली बनी) कोकिला की आन्तरिक पुकार (तुम्हारे प्रति) कृतज्ञता से (आम्र-कानन में) झड़ रही है—बरस रही है। (अपने मुसकराने को इस प्रकार प्रतिबिम्बित और प्रभावकारक देख कर शील के कारण) अत्यधिक लज्जित न हो (और, हाँ, बतला दो—क्या तुम) आज प्रातःकाल मुसकरायी थीं ?

दोष—'चहुँदिशि' में 'चहुँ' का प्रयोग, खड़ी बोली में प्रचलित न होते हुए भी कवि के द्वारा ब्रज और अवधी से ग्रहण किया गया है। शुद्धतावादी इसको सदोष मान सकते हैं।

अलंकार—इस गीत में प्रतिबिम्ब अथवा तद्रूपता की प्राप्ति के सुन्दर चित्रण के द्वारा कवि ने मुसकान के अनुपम प्रभाव का हृदय-ग्राही वर्णन किया है।

[२२] नील-कमल-सी हैं वे आँख !

शब्दार्थ—स्वर्ण-किरणों=तात्पर्य है सूर्य की सोने की सी किरणों से। 'स्वर्णिम किरणों' होता तो यह प्रयोग व्याकरण-सम्मत हो जाता। **ढल**=अनुरक्त हो कर। **चूम**=स्पर्श करके। **कृष्ण-कनी**=काली पुतली।

संकेत—इस गीत में किसी सुन्दरी की आँखों के विविध वर्णों गुणों आदि की सृष्टि के सम्बन्ध में कवि की कल्पना साकार हुई है। उन्हीं आँखों में मन का मुग्ध होना कवित्वपूर्ण ढंग से कहा गया है। ये

आँखें किसकी है ? मानवी अथवा देवी सौन्दर्य की प्रतिमा की—इसके फेर में पड़ने से कोई लाभ नहीं। हाँ केवल यह मानने से काम चल जायगा कि देखने वाले को कोई सुन्दर आँखें मोहित कर उसके हृदय में पड़े अपने प्रभाव को इस रूप में व्यक्त करा रही हैं।

व्याख्या—(कवि कहता है कि मानसिक दृष्टि से वा प्रत्यक्ष देखी हुई किसी अपरूप सुन्दरी की) वे आँखें नीलवर्ण वाले कमल की सी हैं, जिन (कमल सदृश आँखों) के पराग में (मेरे) पंख डूब गये हैं—(हाँ, उन कमल-नयनों के पराग का रसास्वादन करने के लिए उनकी ओर बढ़े हुए मेरे) मनरूपी भ्रमर के पंख उनके पराग में (डूब गये हैं।) नील कमल के सदृश वे आँखें (हैं।)

वे कमल (नेत्र) पहले पहल प्रभात काल में (उनके सौन्दर्य के प्रति) मोहित (सूर्य की) सुनहली किरणों ने विकसित किये। (उनकी ओर अपनी अथवा उनकी) अनजान में (अकस्मात्) अनुरक्त हो कर नीले आकाश ने उनको (अपना) टटका (ताजा, निखरा हुआ तथा स्वच्छ) नीलापन प्रदान किया। (जिस प्रभात बेला में वे नेत्र-कमल खिले तथा दिखलायी पड़े) उस दिन सबेरे पहर (मेरे) जीवन का लघु सरोवर (उन कमल सदृश नेत्रों की सुगन्ध से सुवासित) वासन्ती पवन को स्पर्श कर के लहराने लगा—मतवाला हो कर तरङ्गें मारने लगा —उछलने लगा। (फिर उनकी सुषमा से हृदय में उठी उमंग से) बेचैन हुई (उस जीवन-सरसी की) लहरों ने तुरन्त ही उन नेत्रों में (अपनी) चपलता उँडेल दी—भर दी (और उन स्वर्णाभ, नील नेत्रों को चञ्चल बना दिया। (ऐसे) हैं वे नील

कमल के सदृश नेत्र।

वे नील सरोरुह की सी आँखें (ऐसी हैं) जिनमें (मेरा) हृदय रूपी वसन्त-कुमार (भौंरा) बस (समा अथवा आत्मार्पण) कर (उनकी) विशाल काली पुतली बन गया है। (इस प्रकार मेरा मन उनमें बस गया है। वही उनकी काली पुतली है, जो उन नेत्रों को देखने की शक्ति प्रदान करती है। जैसा मेरा मन चाहता है वैसा ही रूप वे नेत्र देखते हैं।)

दोष—'वे आँख' वाक्यांश अशुद्ध है। 'वे आँखें' होना चाहिये। कवि के इस असामर्थ्य से च्युत संस्कृत दोष हो गया है। 'उस प्रभात' वाक्यांश अँगरेजी के 'दैट मॉर्निंग' का शब्दान्तर मात्र है। हिन्दी के शुद्ध प्रयोग के अनुसार 'उस दिन प्रात' होना चाहिये।

अलङ्कार—मन-मधुकर में रूपक, कमल-सी आदि में उपमा, उर का मधुबाल में रूपक और अनेक स्थलों में अनुप्रास है।

[२३] तुम्हारी आँखों का आकाश

शब्दार्थ—**मृगेक्षिणि** = हे मृग के समान ईक्षणों—नेत्रों वाली। **निभृत** = गुप्त, स्थिर, शान्त, एकान्त। **प्रच्छाय** = घनी छाया से युक्त, घनी छाया वाला। **नादान** = नासमझ, भोलाभाला। **अकूल** = जिसका किनारा वा ओर छोर न हो, अपार। **प्रसार** = फैलाव, व्याप्ति। **गहने** = पकड़ने, थामने, आश्रय पाने।

संकेत—इस गीत में किसी मृग-नयनी के नीले, चञ्चल नेत्रों के सौन्दर्य को देख कर कवि वा भावुक का मन मुग्ध हो गया। वह आपा खो बैठा। कवि उसी लौकिक (अथवा इस वासनामय गीत में भी अध्यात्म का पुट दिये बिना काम न चलता हो तो अलौकिक) सुन्दरी को सम्बोधित कर के उसके नेत्रों के प्रभाव का वर्णन करता है।

व्याख्या—हे मृग के सदृश (कानों तक फैले हुए बड़े-बड़े,

कजरारे, भोले भाले एवं चञ्चल) नेत्रों वाली (सुन्दरि), तुम्हारी आँखों के आकाश (तुम्हारी नीली या श्यामल आँखों) में (तुम्हारी) सरल (छलछिद्र—छलछंद—से विहीन भोली भाली) आँखों के नील आकाश में मेरा (मनरूपी) अनजान पक्षी खो गया, इनमें (वह सांसारिक आकर्षणों के) ज्ञान से रहित (सरल हृदय) अपने को गँवा बैठा। अर्थात् तुम्हारे श्यामवर्ण के विशाल नेत्रों के प्रति मेरा मन खिंचा और वह उन्हीं में समा गया। फिर उनके बाहर निकल न सका। उन्हीं के सौन्दर्य में मेरा मन आसक्त हो गया।)

वह मन-पंछी (उन नेत्रों के अनन्त आकाश में) इनका चिर-कालीन करुणा से पूर्ण आलोक देख कर (एवं इनके) रक्तिम कोनों (इनकी कोरों के लाल लाल डोरों) में (आकाश के ऊपर प्रकाशित होने वाली) उषा की क्रीडा समझ कर वह (उस विशाल नेत्रों के आकाश में उड़ते उड़ते थक कर उन्हीं में कहीं) स्थायी (शान्त, गुप्त अथवा एकान्त) निवास (घोंसला) —पलक रूपी पत्तों का बहुत ही घनी छायावाला निवास स्थल ढूँढने के लिए निकला। उनमें (वह) भोला भाला शिशुपक्षी (रूपी मन) कितने ही अभिलाष ले कर (इन अनन्त आकाश रूपी विशाल नेत्रों में) उड़ चला, (किन्तु इनमें कहीं आश्रय का स्थान पा सकना तो दूर वह स्वयं ही) खो गया।

(मेरी) प्राण (प्रिये), तुम्हारे नेत्रों का (यह) आकाश, (यह) सजल (पानीदार, चमकीला), श्यामल (नीलाभ और) अछोर (अनन्त) आकाश (बहुत ही) रहस्यमय, निःशब्द

(शान्त) और कठिनाई से जाना-समझा जा सकनेवाला, (दुर्बोध) विस्तार वाला है। इसमें (रुक सकने के लिए हाथ से) थामने को तिनके का सहारा (भी) नहीं है। (फिर भला) इस (नेत्र-आकाश) में (मेरा मन-पंछी) कैसे संसार, अपना घर बसायेगा ? (कैसे तुम्हारे इन नेत्रों की चञ्चलता में यह स्थिर रह कर अपने अभिलाष की पूर्ति कर पायेगा ?)

इन (नेत्रों) का आदि-अन्त (और) पार (दूसरे किनारे का पता) नहीं है। (इनके द्वारा तुम्हारे मन के भावों के पूर्ण रूप का ज्ञान हो सकना सम्भव नहीं जान पड़ता। इनके अपार मार्ग में) वह (मेरा मन रूपी) भोला भाला (संसार की छलना से अपरिचित) नया यात्री खो गया (राह भूल गया अथवा पथभ्रष्ट हो गया—अपने जीवन के लक्ष्य को भूल कर इनके फेर में पड़ कर संसार में आसक्त हो गया।)

दोष—'तुम्हारी आँखों का आकाश, सरल आँखों का नीलाकाश—' इसका युद्ध रूप होना चाहिये 'तुम्हारी आँखों के आकाश, सरल आँखों के नीलाकाश में'। कवि की असमर्थता-सूचक इन वाक्यांशों के कारण इन प्रयोगों का व्याकरण-सम्मत रूप ही व्याख्या में गृहीत है। 'ओर-छोर रे पार'—में 'रे' का प्रयोग अनावश्यक है।

अलङ्कार—रूपक।

[२४] नवल मेरे जीवन की डाल

शब्दार्थ—**उन्मद**=उन्मादिनि, मतवाला बनाने वाली। **वात**=हवा। **मन्द्र**=गंभीर, धीमा। **मर्मर**=मर-मर, पेड़ों के पत्तों के खड़-खड़ाने की ध्वनि। **मदिर-कोरों से**=मदिरा की मादक एवं रक्त वर्ण नोकों के द्वारा। **कोरक**=कली। **जाल**=समूह। **प्रवाल**=

नये पत्ते, किसलय, कोंपल। **बौरे**=मञ्जरित, बौराये हुए, मतवाले।

संकेत—इस गीत में वसन्त के आगमन के समय प्रकृति में नवीनता आने का उल्लेख है। मन को मत्त कर देने वाली हवा, कोयल की कूक और कोंपलें कवि के मन के लिए प्रेम के उद्दीपन का काम करती हैं। वह अपनी इसी मानसिक दशा का उल्लेख करता है।

व्याख्या—आज मेरे नवीन जीवन (रूपी तरु) की शाखा प्रेम रूपी पक्षी का निवास-स्थल बन गयी। (उसको प्रेम-पखेरू ने आज अपना अड्डा बनाया है। मेरे मन में प्रेम का उदय हुआ है। कारण ?)

आज वसन्त के (नये खिले पुष्पों का पराग पी कर मत्त हुआ, झूमता, मन्दगामी एवं मेरे मन को अपने सुवास से) मतवाला करने वाला पवन (मेरे) शरीर (के समस्त अवयवों) को पत्तों की तरह हिला (झकझोर) गया। (अपना मादक प्रभाव मेरे अङ्ग-अङ्ग में व्याप्त कर गया। इसके फल-स्वरूप मेरे) हृदय (रूपी तरु) में (पत्तों की) खड़खड़ाहट जैसी धीमी धीमी (वा गम्भीर) अनजानी उसाँस उठती है। (मेरे मन में ऐसी मन्द मन्द उर्ध्वगामिनी साँस उठ रही है जिसका अनुभव अब तक मैंने नहीं किया था। आज पहले पहल मैं प्रेमोदय की अनुभूति कर रहा हूँ। इस प्रकार) मेरे जीवन (रूपी वृक्ष) की नयी शाखा प्रेम रूपी पक्षी का बसेरा बनी है।

(पौधों और पेड़ों में निकली हुई) कलियों के समूह (अपनी) मत्तकारिणी तथा लाल रंग की नोकों से (मेरे हृदय के कोमल तथा संवेदनशील) मर्म (सन्धि-स्थल) को बार-बार

छेदते हैं (जहाँ उनकी चोट लगने से बहुत अधिक पीडा होती है—उनको देख देख कर हृदय में क्षण क्षण में प्रेम के भाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार कलियों के उद्दीपन से मेरे मन में स्थित प्रेम का स्थायीभाव उद्बुद्ध होता है। जिससे अब तक) चुप (स्थिर, निश्चेष्ट और) चिरन्तन (स्थायी मेरे) प्राण रूपी कोकिल का बच्चा आज (अपने अन्तस्थल की वेदनाभरी) करुण बोली में बोल उठता है। (कलियों को देख कर मेरे मन में प्रसुप्त अवस्था में स्थित प्रेम का भाव उठता और अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल होता है और वही कविता बन कर फूट पड़ता है।)

(अब कवि की दृष्टि रक्तवर्ण के किसलयों पर पड़ती है। वे उसके प्रेम को और भी उद्दीप्त करते हैं। इस पर वह अपनी आन्तरिक आकुलता प्रकट करते हुए बोल पड़ता है कि) अरे अब तो (पेड़ों की) नयी नयी (रक्तवर्ण) कोंपलें (आग की लपटों की तरह) जल-जल कर (मेरे शरीर के) प्रत्येक रोयें में (प्रेम की) आग जला रही हैं। आज (पूर्ण) यौवन से सम्पन्न आम बौरों से लद गये हैं। (आमों में अधिक से अधिक मञ्जरियाँ भर गयी हैं। उनकी भीनी भीनी गन्ध मन को मतवाला कर रही है। उन बौरों का पराग पीने के लिए मेरे) भ्रमर रूपी मन को (उनकी) सुगन्ध (अपनी ओर खींच लायी है और अपने ऊपर) चक्कर लगवाने लगी है। (अर्थात् आम की मञ्जरियों की ओर मेरा मन मोहित हो कर मँडराने लगा है।)

दोष—'आज मधुवन की उन्मद वात' में वात का स्त्रीलिंग में प्रयोग

प्रचलित नियमों के विपरीत होने से च्युत संस्कृत दोष उत्पन्न करता है।

अलङ्कार—'पात-सा गात', और 'मर्मर सा' में उपमा है। 'जीवन की डाल···प्रेम विहग का वास' में परम्परित रूपक है। 'प्राणों का पिक-बाल' और 'भौंर-मन' में रूपक है।

[२५] आज रहने दो यह गृह-काज,

शब्दार्थ— वातास = बतास, हवा। **सौरभ-श्लथ** = सुगन्ध के आधिक्य वा बोझ से शिथिल या मन्द। **उच्छ्वास** = उसास, श्वास। **लालस** = ललचाया हुआ; लुब्ध। **सालस** = आलस-सहित, अलसाया हुआ। **मदिर-स्पृहा** = मादक इच्छा, मदमत्त करनेवाला अभिलाष। **स्वप्निल** = स्वप्न की सी अर्द्धचेतनावस्था में, तन्द्रा की सी दशा में अधखुली और अलसाई जैसी। **वाचाल** = बहुत बोलने वाला। **दिन-मान** = सूर्योदय से सूर्यास्त तक के समय का परिमाण, सम्पूर्ण दिन का काल।

संकेत—इस गीत में किसी ऐसी प्रेमिका के प्रति व्यक्त उद्गार हैं जिसको उसका प्रेमी अपने से क्षण भर के लिए भी विलग नहीं होने देना चाहता। वह उससे अभिलाष प्रकट करता है कि आज लाज छोड़ कर दिन भर मेरे पास ही रहो। मेरे प्रेममय मन की सारी मिलन-लालसा पूर्ण करो।

व्याख्या—(मेरी) प्राण (प्यारी), आज यह घरेलू काम-धन्धा बन्द करो, आज यह घर का काम-काज योंही पड़ा रहने दो। कारण, मैं कह नहीं सकता कि आज कैसी हवा सुगन्ध (के भार) से (लदी) मन्द-मन्द उसास छोड़ रही है। (आज और दिनों से भिन्न मन में और ही भाव उत्पन्न करने वाली जाने कैसी हवा सुगन्ध से सनी धीमी धीमी चलती है।) हे प्रिये, आज की लालसा भरी और अलसायी हुई हवा (मेरे) रोम-

रोम में सैकड़ों अभिलाषों को जगा कर (बह रही है। अर्थात् आज की मदमाती सुवासित हवा के प्रभाव से मेरे मन में प्रेम की छिपी हुई अगणित इच्छाएँ उठ रही हैं। तुम सब काम छोड़ कर मेरे समीप आओ और मेरी उन इच्छाओं को पूर्ण करो।)

मेरी प्राण, आज (मेरे) हृदय की प्रत्येक परत (हृदय के जितने भी स्तर हो सकते हैं उन सब) में (तुम्हारे मिलन के पूर्व की छिपी हुई प्रेम की) सैकड़ों (अगणित) कोमल स्मृतियाँ सचेत (हो रही) हैं। (जो मानसिक वृत्तियाँ अभी प्रसुप्त दशा में थीं वे आज इस मादक पवन के झोंके लगने से जग कर अपनी पूर्त्ति चाहती हैं। इसी से मेरी) आँखों में (प्रिया के मिलन के फल-स्वरूप अभिलषित वासनाओं का) प्यारा काल्पनिक एवं मनोहर संसार बस रहा है। (आँखों में मानसिक कामनाओं के द्वारा निर्मित सुन्दर पदार्थों का समूह समाया है और) हृदय के तुरन्त ही प्रभावित होने वाले स्थल में मत्त-कारिणी कामना (की अधिकता) का भार जान पड़ता है—मन में ऐसी अनेक इच्छाएँ उठती हैं जिनसे वह मतवाला हो रहा है।

हे सुमुखि, आज (मैं ही इस प्रकार मदमाता नहीं, अपितु देखो, उपवन के पौधों की) अल्पवयस्क (छोटी छोटी) कलियाँ (भी अपने प्रियतम भ्रमर से मिलने की उत्कंठा से अपनी) अल-सायी (हुई सी और) अधखुली पंखुड़ियों को खोल कर निर्निमेष (दृष्टि से उसके आगमन की प्रतीक्षा कर रही) हैं। (उन विकच कलियों के मिलन से अपने) मन के आनन्द से (प्रसन्न हो

कर) बहुत अधिक मुखर भौंरा (उन कलियों पर) मँडराता हुआ गुञ्जार कर रहा है। (अपना हृदय खोले खिली हुई उत्कण्ठित कलियों से उनका प्रियतम भ्रमर मिलन-सुख का भोग कर रहा है तो तुम भी इस समय जी खोल कर मुझे अपने सम्मिलन का आनन्द प्रदान करने क्यों नहीं आतीं ?)

आज (मेरा) मन (और मेरे) प्राण (कुछ) चञ्चल-चञ्चल (उतावले-उतावले से हो रहे) हैं, मेरा शरीर (कुछ) शिथिल-शिथिल है। आज (मेरे और तुम्हारे) दो प्राणों (के एक हो जाने) का दिन है। आज (मेरे लिए) संसार (पहले जैसा नीरस और गतानुगतिक) संसार नहीं (रह गया। मेरे मन में प्रेमोदय होने से मुझे वह बदला हुआ, आनन्द-मय दिखलायी पड़ता है। ऐसे समय) हे प्रिये, क्या तुमको लाज सुहाती है? (क्या तुम्हारा मुक्त हृदय से मेरे पास न आ कर लजाना अच्छा है ? ऐसा करना ठीक नहीं है। जी खोल कर आओ।) आज घर के सब काम पड़े रहने दो। (आओ, हम तुम आज जी भर कर मिलें और जीवन का सुख लें।)

दोष—'आज चंचल चंचल···तन भार' में 'रे' का कोई विशेष प्रयोजन नहीं और न चंचल तथा शिथिल की आवृत्ति ही सौन्दर्य-विधायिनी है। कवि ने इनके द्वारा सार्थक शब्दों का प्रयोग न कर सकने की त्रुटि की है। इनसे तो पुनरुक्ति दोष होता है।

अलङ्कार—स्तर-स्तर, सौ-सौ, में पुनरुक्तिप्रकाश है। अनेक स्थलों में अनुप्रास भी है।

[२६] मधुवन

[१] आज नव-मधु की प्रात।

शब्दार्थ—**रुचिमान** = सुन्दर, मनोहर।

सङ्केत—इस कविता में वसन्त ऋतु में वन की प्रातःकालीन सुषमा का शब्द-चित्र खींचा गया है। प्रत्येक छन्द में क्षण-क्षण में नयी प्रभा से अपना रूप परिवर्तित करने वाले प्रातः के लिए तदनुरूप विशेषणों का प्रयोग करके प्रकृति के पल-पल में बदलते हुए सौन्दर्य पर दृष्टिपात हुआ है। इसे कवि की अपनी मानसिक अभिव्यक्ति मानें तो प्रकृति में वह अपनी मनः कल्पित प्रेयसी के सौन्दर्य की झलक देखता है—मानो वासन्ती शोभा का उद्गम स्थल वही है।

व्याख्या—मेरी प्राण (प्रिये), आज आकाश (के नीलाभ नेत्रों) की पलकों के भीतर नवागत वसन्त का सबेरा झलक रहा है। (जिससे वह उसकी उषाकालीन कुछ-कुछ ललाई लिये हुए, अपने नील कलेवर पर लालिमा की हलकी परत के साथ, नीले नेत्रों पर पड़ती हुई लाल कोरों की झलक के रंग के समान अनुपम रंगीनी दिखला रहा है।) हे मेरी जीवन-स्वप्न, (जीवन में अभिलषित सुन्दरतामयी कल्पना की मूर्त्तिमती सत्ता, यह) प्रभात तुम्हारे मुँह की सुन्दरता की तरह मनोहर (आज) उस यौवन की अलौकिक कमनीयता से परिपूर्ण अभिलाषों के सदृश (आकाश में) प्रतिबिम्बित है जिसको अपने आगमन का ज्ञान स्वतः नहीं है। (अर्थात् जो यौवन आरम्भ होने लगा हो, किन्तु जिसको अपनी अनुभूति न हो रही हो, और जिसकी रंगीन कल्पनाएँ उसके भीतर से उभरने लगी हों उसमें जैसे हलकी

मादकता की क्षीण लालिमा की झलक शरीर की कुछ-कुछ ललाई लिये गोराई में दिखलायी पड़ती है वैसे ही इस समय नीले आकाश के ऊपर प्रभात के आरम्भकाल की हलकी ललाई दौड़ गयी है। वह नीलाकाश ईषत् लालिमा से आवृत है।)

(धीरे-धीरे प्रभात की हलकी लालिमा कुछ गहरी हो जाती है। तब वह आकाश के नीले रंग को छिपा-सा लेती और उस पर स्वतः छा जाती है। कवि उसी का उल्लेख करता है। अब) आज रक्त वर्ण वासन्ती सबेरा है। वह (रक्त वर्ण प्रभात नील वर्ण से साम्य रखने वाली गहरे हरे रंग की) आकाश रूपी लता में (लाल) कोंपल का-सा वैसा ही खिल (विकसित अथवा सुशोभित हो) रहा है जैसा तुम्हारे सुन्दर गालों के ऊपर कोमल (हलकी) लज्जा का मृदु किसलय-समूह। (अर्थात् लज्जा की ललाई। अभिप्राय यह कि तुम्हारे कपोलों पर लज्जा के समय कुछ गहरी लालिमा दौड़ जाने पर उनका जो वर्ण हो जाता है वैसा ही यह लोहित वर्ण प्रभात आकाश पर शोभित हो रहा है।)

(इस दशा के पश्चात् कुछ समय में गगन-मण्डल में थोड़ा-थोड़ा पीला रंग दौड़ने लगता है। उसकी सुषमा का शब्द-चित्र अङ्कित करते हुए कवि कहता है कि) हे (मेरी) प्राण (प्रिये), आज (वह) वासन्ती सबेरा (मन को) मदमत्त (करने वाला) है। (अथवा स्वयं ही मतवाला हो रहा है।) आकाश रूपी नील कमल से वह पीले पराग के समान उसी प्रकार झर रहा है जिस प्रकार तुम्हारे शयन से शिथिल

(अलसाये) कमल (रूपी नेत्रों) के उन्मीलन (खुलने वा खिलने) से मदिर (मतवाला) आलस्य (मदमत्त आलस्य ही रूपवान हो कर) छलकता है। (अर्थात् जैसे तुम्हारे रक्त-कान्त मुख-मण्डल से मदिरापान के कारण उत्पन्न पीलेपन का-सा हलका पीला रंग सोते समय फूट पड़ता है वैसे ही नीला-काश रूपी कमल के पीले मकरन्द के वर्ण का सुनहला प्रभात आज वसन्तकालीन आकाश पर फैल रहा है।)

(अब धीरे-धीरे वह हलका पीलापन गहरे पीले रंग में बदल गया। इस पर कवि कह उठता है कि हे मेरी) प्राण (-वल्लभे), आज मधु-ऋतु का सुप्रभात (तारागण से शून्य, निर्जन) स्वच्छ आकाश रूपी कुञ्ज (लता भवन) में नये (पीले) गुलाब के सदृश उसी तरह विकसित है जिस तरह तुम्हारा मनोहर साभिलाष (प्रेम की इच्छाओं से युक्त) मुख-कमल लज्जा के झुके हुए डण्ठल के ऊपर विकच हो रहा हो। (अभिप्राय यह है कि कमल कुछ झुके हुए कोमल डण्ठल में खिलता है। उसी के सदृश तुम्हारा मुख लज्जा के कारण झुक जाता और धीरे-धीरे मुसकराते समय पीला पड़ जाता है। जैसा सौन्दर्य उसका होता है वैसा ही यह आकाश-कुञ्ज में खिला हुआ पीले गुलाब जैसा सबेरा आज दिखलायी पड़ रहा है।)

(अब आकाश के ऊपर होने वाला यह रंगों का खेल नयी शोभा से सम्पन्न हो रहा है। समस्त आकाश लाल प्रकाश से भर गया। उसका परिचय देते हुए कवि कहता है कि हे) प्रिये, (अब यह) वासन्ती प्रातः (पूर्णतया) खिल कर (मुक्त, खुले

हुए) आकाश रूपी खुली (तथा) उभरती हुई वेणी में (गुथे) लाल पलाश (के फूलों) के समान शोभा पा रहा है। (जैसे उठती हुई वेणी में गुथे हुए पलाश के लाल फूलों का गुच्छा सुशोभित होता है वैसे ही आज यह खुला हुआ, स्वच्छ गगन-मण्डल इस लाल रंग से रँगे हुए प्रभात से रञ्जित हो रहा है। इस प्रकार) आज वासन्ती वन-प्रदेश (तुम्हारे प्रति) कृतज्ञता-ज्ञापन करने के लिए (अपनी गुच्छ-गुच्छ) कलियों (की पुष्पाञ्जलि के रूप) में विनत हो कर तुम्हें अपना वैभव (अपनी श्री, शोभा और सम्पन्नता) अर्पित कर रहा है।

दोष—इस गीत के सभी छन्दों में मधु-प्रात के लिए स्त्रीलिंग की क्रियाएँ प्रयुक्त हुई हैं। यथा, झलकती, खिल रही, झर रही, खुल रही और सुहाती। कवि ने प्रातःकाल को स्त्री माना है और हिन्दी की मान्य परम्परा के विरुद्ध जानबूझ कर ऐसा करके च्युत संस्कृत दोष किया है। 'तुम्हारे शयन-शिथिल सरसिज उन्मील' के बाद 'से' विभक्ति जोड़े बिना 'छलकता' क्रिया का सम्बन्ध नहीं जुड़ता। यहाँ न्यूनपदत्व दोष है। 'उन्मीलन' से 'उन्मील' करने को भी कवि का स्वातन्त्र्य कह कर टालना नहीं चाहिये। यह तो उसका असामर्थ्य-सूचक प्रयोग है।

अलङ्कार—प्रथम प्रतीप और परम्परित रूपक से पुष्ट उपमा का मनोरम प्रयोग सभी छन्दों में हुआ है।

[२] डोलने लगी मधुर मधुवात।

शब्दार्थ—व्रतति = लता। **गात** = गर्भित। **हिम-गात** = हिम-गर्भित, हिम से पूर्ण, भरा हुआ। **शयित** = सोया हुआ, बन्द। **पुलकाकुल** = प्रसन्नता से अपने भाव प्रकट करने के लिए बेचैन। **मदिराभ** = गुलाबी लाली से युक्त। **किंशुक** = पलाश। **पाटल** = लोध्र वृक्ष जिसके पुष्पों का रंग गुलाबी होता है। **अराल** = झुका हुआ, टेढ़ा।

व्याज = मिस, बहाना। **तिलक** = पुन्नाग की जाति का एक पेड़, जिसमें छत्ते के आकार के फूल वसन्त ऋतु में लगते हैं। **अशोक** = रक्ताभ पुष्पों का वृक्ष विशेष। इसके सम्बन्ध में कवि-प्रसिद्धि है कि यह रुनझुन-रुनझुन करती पायलों (नूपुरों) से सुसज्जित नारी के चरणों के प्रहार से पुष्पित होता है। **प्रियंगु** = लता विशेष, जो कवियों की मान्यता (कवि-समय) के अनुसार नारी के स्पर्श से खिलती है। **रुचि** = शोभा, कान्ति। **चम्पक** = अत्यधिक तीव्र सुगन्ध से पूर्ण पुष्प विशेष, जिसके फूलों के पास, कवि-समय के अनुसार, भौंरा नहीं जाता। वह सब फूलों का रस लेता है, किन्तु इसका नहीं। **पदचार** = पद-चारण, टहलना। **कनियार** = कनक चम्पा, एक प्रकार का चम्पा। **नर्म** = परिहास, हँसी ठट्ठा। **मन्दार** = पारिभद्र, नहसुत या फरहद का पेड़, जिसके पलाश के से पत्ते और लाल फूल होते हैं। **सहकार** = आम। **लवंग** = लौंग की डाल। **लाजवती** = छुई मुई। **माधवी** = सुवासित फूलों की लता विशेष का नाम, यह चमेली का एक भेद है। **मोतिया** = मोती के से गोल आकार का बेला। **मोगरा** = एक प्रकार बढ़िया और दो दल का बड़ा बेला। **स्फार** = स्फीत, बड़ा। (मोगरे में दो दल होते हैं। स्फार कदाचित् अँगरेजी के Double (of flowers) —फूल के वृन्त के दल के रूप में बदल कर दो दल (पंखुड़ियों) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार यह द्विदल मोगरा के लिए उपयुक्त विशेषण होगा। कर्णफूल भी ऐसा ही खुला और बड़ा आभूषण है।) **मदनबान** = एक प्रकार का बेला, जिसकी कलियाँ लम्बी और दल एकहरे और नुकीले होते हैं। **बान** = सजधज। **तनिमा** = कृशता, दुबलापन। **प्रतति** = विस्तार। **सिरिस** = बहुत ही कोमल तन्तुओं से युक्त पुष्प विशेष का नाम। **चीना** = चेना। दारचीनी कपूरी। यह सदाबहार वृक्ष चीन, जापान, कोचीन आदि में होता है। अब देहरादून, नीलगिरि में तथा सहारनपुर और कलकत्ते के कंपनी बागों में लगाया जाने लगा है। इससे कपूर निकाला जाता है।

संकेत—इस कविता में कवि वा भावुक के द्वारा उसकी प्रेयसी के सौन्दर्य का वर्णन इस ढंग से किया गया है कि वसन्त के खिले पौधों और वृक्षों के पुष्प उसी (प्रेयसी) के विविध अवयवों वा कार्यों के प्रतिबिम्ब हैं। इसमें कवि वासन्ती पवन के चलने और उसके प्रभाव से खिलने वाले सुन्दर फूलों का रूप भी अङ्कित करता है।

व्याख्या—तिनके, लताएँ, कुञ्ज और पेड़ों के पत्ते (अपने मन्द-मन्द झोंके से) हिलाती हुई प्यारी वासन्ती हवा बहने लगी। (मेरी) प्रिये, (भौरों की) गूँज, (फूलों के) पराग, (पराग की) सुगन्ध, (पुष्पों के मकरन्द की) रज और शीतलता से युक्त हवा (धीरे-धीरे) चलने लगी। (अर्थात् वसन्त की ठंढी हवा में पराग उड़ रहा है, सुवास भरा है और उसके द्वारा फूलों के रस-पान में मत्त उनके ऊपर मँडराते और गुन-गुनाते भौरों की गूँज कानों को सुनायी पड़ रही है।)

(अब तक) बहुत देर से (अपना सम्पुट बन्द किये, आँखें बन्द किये) सोती-सी नयी कली (अपनी) अलसायी पलक रूपी पंखुड़ियों को (पवन के मन्द-मन्द थपेड़े खा-खा कर धीरे-धीरे) खोलने लगी—पवन के मधुर स्पर्श से कलियों की पंखुड़ियाँ धीरे-धीरे खुलने लगीं—चटकने लगीं जैसे वे सोने से जग रही हों और आलस में भरी होने के कारण बहुत ही धीरे-धीरे आँखें खोल रही हों। (साथ ही वसन्तागमन से) पुलकित (होने से अपने आनन्दोद्गार व्यक्त करने के लिए) छटपटाती हुई कोकिला-कुमारियाँ (कोयलें) (आम्र-तरु की एक) शाखा से (दूसरी) शाखा पर (फुदकती-कूदती) मोद में भर कर

(पंचम स्वर में) कूकने लगीं।

(अब कवि इस ऋतु में खिलने वाले सुन्दर फूलों का वर्णन करता है। वह उनको दिखलाता हुआ-सा अपनी मनःकल्पित सुन्दरी से कहता है कि हे) प्रिये, गुनगुनाते (वाचाल और फूल-फूल पर) मँडराते हुए भौंरों के झुण्डों के द्वारा (सजग किया गया) युवकों का प्यारा, (उनके अपनी प्रेयसियों के प्रति प्रदर्शित) प्रेम की स्मृति का स्मारक (एवं) वसन्त के प्रथम (आगमन-काल में उसका सबसे पहला) पुष्प गुलाब मदिरा की आभा (लालिमा) से युक्त (अपनी) नेत्र रूपी पंखुड़ियों को खोलता है। (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कथनानुसार 'चटकीं गुलाब की कलियाँ', जो महाकवि 'देव' की कल्पना में मदन-महीप के बालक—वसन्त को चटकारी दे-दे कर जगाती हैं।)

(हे प्रिये), आज (इस विश्व-वाटिका में विविध रंगों के फूलों के रूप में) तुम्हारी सुन्दरता की असीम शोभा (ही) चतुर्दिक् (सर्वत्र) खिल रही है—फूल रही है। (उसको देखने के लिए) पराग के प्रेमी भौंरे (रूपी रसिक जन वा प्रकृति-प्रेमी कवि गण अपने) नेत्रों के पपोटे (दृगञ्चल) रूपी पंखों को फैला (खोल) कर मतवाले (हो) घूमते-फिरते (उड़ते और विचरण करते) हैं।

(अब कवि प्रकृति में प्रियतमा के शरीर एवं उसके अवयवों के प्रतिबिम्ब को देख कर कह उठता है—) तुम्हारे सुन्दर शरीर को देख कर वासन्ती वन में आग लग गयी है। (समस्त वन के हृदय में स्थित अनुराग ही उसमें लाल-लाल कोंपलों और वैसे ही फूलों के रूप में खिल कर, साहित्य में मानी गयी प्रेम-ज्वाल

की लाल लपट का आकार धारण कर रहा है। तभी ये) पलाश, अनार और कचनार (वन की तीव्र) लालसा (उत्कंठा) की लाल शिखा के समान उठ कर (मूर्त्तिमान हो कर अपने रक्तवर्ण के फूलों के गुच्छे लिये हुए) खड़े हैं। (अर्थात् वसन्त में खिलने वाले इन लाल रंग के फूलों को अपना रङ्ग तुम्हारे रक्त-वर्ण शरीर से ही प्राप्त हुआ है।)

(मेरी) प्राण (प्रिये, तुम्हारे ही लाल लाल) गालों की (लाल रंग की) मदिरा पी कर आज लोध्र (और) गुलाब के समूह (लाल पुष्पों के रूप में उसकी मदिरा का रङ्ग और उसकी मस्ती ले कर उपस्थित हैं। तुम्हारी) नीचे की ओर झुकी हुई शुक की (चोंच की सी नुकीली और टेढ़ी) नाक का ध्यान करके ही ढाक के फूल झुके हुए उस रूप के बन गये हैं। (अर्थात् तुम्हारे कपोलों के रंग से लोध्र और गुलाब के फूलों ने अपना रङ्ग ग्रहण किया है और तुम्हारी ही नाक से पलाश के फूलों ने अपना आकार। ढाक के फूल शुक की चोंच की तरह (किं) कुछ-कुछ टेढ़े और लाल होते हैं। इसी से पलाश का किं+शुक नाम पड़ा।)

(हँसने से जल्दी जल्दी खुलने के कारण तुम्हारी) चञ्चल दन्त-पंक्ति आज कोमल (शुभ्र एवं ईषत् लालिमा की कोरों से युक्त) कुन्द पुष्प की कलियों में खिल रही है। (खिलती हुई कुन्द कलिकाएँ तुम्हारे ही मन्द और निरन्तर हास्य का स्वरूप हैं। और तुम्हारी) एक चपल दृष्टि के बहाने (ही) तिलक को (अपने छत्राकार फूल के रूप में) सुन्दर छत्र (के धारण करने)

का आनन्द मिला है। (अर्थात् तुमने जो इधर से उधर एक चञ्चल दृष्टि फेरी तो उससे जो छत्राकृति बनी वही तिलक पुष्प के रूप में छत्र बन कर प्रकट हो गयी। तिलक के फूल तुम्हारी दृष्टि फेरने से अपना ऐसा छत्राकार ले कर उत्पन्न हुए हैं।)

तुम्हारे (नूपुरों से युक्त) चञ्चल (गति से चल कर रुनझुन-रुनझुन करने वाले) चरणों के स्पर्श को पा कर उनके) चुम्बन से पूर्ण-काम (भली भाँति सन्तुष्ट) अशोक की रक्तिम सींकों में लगे (छोटे छोटे) फूल (आज कवि समय के अनुसार) सबेरे पहर खिल उठे है। (कवियों की मान्यता के अनुसार तुम्हारे) छूने से तुरन्त ही प्रियंगु की मञ्जरी का रोयाँ रोयाँ निरन्तर रससिक्त (हो कर खिल गया) है। चम्पा (का फूल अपनी) सुनहली (पीली) कलियों की सुकुमार शोभा (कोमल कान्ति और मन्द सुगन्ध तुम्हारी गौर एवं सुवासमय देह से चुपके चुपके तुम्हारे जाने बिना ही) अपहरण करके (स्वयं ही उनको अपना कर तथा अपनी कलियों की पंखुड़ियों के ईषत् खिलने के रूप में) तुम्हारी स्वच्छ (मन्द) मुसकान को कृतज्ञतापूर्वक (पा लेने के बाद फिर अपने) पास (उसको पाने लिए) भौंरे को क्यों आने दे? (स्वयं ही उस कान्ति और सुगन्ध का सुख पूर्णतया क्यों न प्राप्त करे? अर्थात् चम्पक के वर्ण और सौन्दर्य में तुम्हारा रंग और सुवास अनुपम रूप से निहित है।)

(तुम्हारा) द्रुतगामी कोमल (और) कुशल टहलना (चलना) देख कर (तुम्हारे गोरे चरणों के वर्ण-आकार का) पीला चम्पा

(अपने पीतवर्ण एवं पराग की) सुवर्ण की राशि (तुम्हारे पद-सञ्चरण के मार्ग पर) बिखेर रहा है। (तुम्हारी गति-भङ्गिमा को देख कर परिहास का रहस्य जाननेवाला (खिलखिला कर हँसता वा विकसित) पारिभद्र (फरहद वा नहसुत) अपने फूलों में (अपना) उदार हृदय (मानो अपने हाथों में) लिये हुए मोहित (खड़ा) है। (अर्थात् मन्दार के फूल अत्यधिक परिमाण में खिल रहे हैं, हिलते-डुलते नहीं। वे तुम्हें आत्मार्पण करने को—अपना हृदय अपने हाथों में लिये हुए से—तुम्हें देख रहे है।)

(वायु के द्वारा प्राप्त) तुम्हारे मुख से निकली हुई सुगन्ध की लहरें पी-पी कर आज आम और भौंरें बौराये (क्रमशः मञ्जरित और मतवाले) हैं। (उस सुवास से आम की बौरें सुगन्ध से भर गयी है और उसी से छक कर भौरें मत्त जैसे हो कर उन आम्र-मञ्जरियों के ऊपर मँडरा रहे हैं—मदपान किये के समान मन्द गति से उड़ते हैं, प्रायः एक ही स्थान पर फिर फिर कर आ जाते और अस्फुट बोल बोल रहे हैं।) हे तन्वङ्गि, तुम्हारे समान ही सुकुमारी बनने के लिए लौंग (की डाली 'लवंगलता' कहलाने के लिए) अपने अङ्ग (में निकली हुई कलियों को बढ़ने नहीं देती, प्रत्युत उन) को नित्य प्रति (लोगों के द्वारा) चुनाया करती है। (लौंग की कलियाँ पहले हरी रहती हैं, फिर पीली और अंत को गुलाबी रंग की हो जाती हैं। इसी समय खिलने के पहले ये कलियाँ या तो बँधी हुई चुन ली जाती हैं या लकड़ियों से पीट कर नीचे गिरा दी जाती और फिर इकट्ठी करके सुखा ली जाती

हैं। इस प्रकार लौंग के प्रायः बीस वर्ष तक खड़े रहने वाले बड़े बड़े पेड़ निरन्तर अपने को चुनाते हैं; जैसे वे तन्वङ्गी की देह-लता के सदृश लवंगलता बनने के लिए)।

मेरी प्राण (प्यारी, अपने) फूलों में ललाई भर कर छुई मुई (तुमसे) सुकुमार लज्जा सीखती है। (स्पर्शमात्र से मानो लाज से सिकुड़ जाने वाली छुई मुई लता तुमसे ही यह गुण सीख रही है। तभी लाज में जैसे तुम्हारे अंग सिकुड़ जाते और गालों में हलकी ललाई दौड़ जाती है वैसे ही उसके अंग और फूल हैं।) तुम में वसन्त के सभी ठाठ-बाट देख कर (तुम्हें ऋतु-रानी समझ कर फूलों के भार से) झुक (विनत-शिर) माधवी लता तुम्हारा आदर-सत्कार करती है।

सद्यः (वा टटके फूलों से) खिला बेला (तुम्हारे) वक्षस्थल की माला (है), मोती (से, एक आकार के छोटे छोटे श्वेत दाँतों) की (शुभ्र) मुसकान (गोल कलियों का) मोतिया (है), (तुम्हारे कानों के आभूषण) कर्ण फूल (के आकार का) सा बड़ा मोगरा (दो दल का बड़ा बेला है और नुकीले एकहरे दल की लम्बी कलियों वाले) मदनबान (बेला) की सजधज (तुम्हारी) अँगुलियाँ (हैं)।

तुम्हारे शरीर का अल्प परिमाण (हलकापन) कोमल (एवं) लम्बी-चौड़ी लता का (गुथा हुआ) जाल बना है। (बहुत अधिक विस्तृत लता का पतला जाल तुम्हारी देह की सूक्ष्मता से ही निर्मित हुआ) है। (तुम्हारी) कोमलता सुकुमार सिरिस की कली (के रूप में प्रकट हुई) है। (तुम्हारी देह

का परिमाण वा मात्रा में) अत्यधिक रोमाञ्च चीना (चेना, दारु-चीनी) की डाल (में विद्यमान) है।

(इस प्रकार हे) प्रिये, आज तुम्हारे (शरीर के) रोएँ-रोएँ (प्रत्येक अवयव) के सौन्दर्य के बहाने से प्रत्येक कली और फूल में माधुर्य, मकरन्द, सौन्दर्य और पूर्ण रूप से विकास (बन कर) चैत वासन्ती वन में छा गया है। (वन की समस्त कलियों और फूलों का यह रूप, सौष्ठव और माधुर्य तुम्हारी देह के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का सौन्दर्य है। इन सब ने तुम से ही अपना रूप, सौन्दर्य, माधुर्य और सुवास प्राप्त किया है। जो कुछ आज चैत के महीने में प्राकृतिक सुषमा दिखलायी पड़ती है उसमें तुम्हारा ही प्रतिबिम्ब है।

दोष—ऐसी चित्रमयी कोमल-कान्त पदावली से ओतप्रोत कविता में भाषा सम्बन्धी दोष बहुत खटकते हैं। सम्भव है उनको दिखाने से कवि के प्रति कुछ अन्ध श्रद्धालु व्याख्याकार की हृदय-हीनता मान बैठें। किन्तु दोष तो दोष ठहरे। उनसे बचना ही होगा। 'डोलने लगी मधुर मधुवात' में 'वात', और 'नवेली बेला उर की हार' में 'हार' का प्रयोग स्त्रीलिंग में जानबूझ कर ही कर के कवि ने च्युतसंस्कृत दोष किया है।

तेरहवें छन्द में अन्तिम चरण 'अँगुलियाँ मदन बान की बान' भी विचारणीय है। इसके पूर्ववर्ती तीनों चरणों में प्रकृति के मान्य उपमान उपमेय से हीन दिखलाये गये हैं, किन्तु इस चरण में उपमा आ गयी है। यह क्रम-विपर्यय भी ठीक नहीं।

मोतिया, मोगरा और मदनबान—ये तीन प्रकार के बेला हैं, जिनके आकारों का साम्य दन्तावलि, कर्णफूल और उँगलियों से होने के कारण कवि की दृष्टि इन पर पड़ी होगी। किन्तु फिर चौथे शब्द 'बेला'

का क्या प्रयोजन था ? क्या केवल माला के लिए ? इस कविता में वसन्त में खिलनेवाले सभी फूलों के साथ ग्रीष्म और वर्षा में खिलनेवाले बेला का यह गठ-बन्धन कवि के निरीक्षण को सदोष सिद्ध करता है।

अलङ्कार—प्रतीप का सुन्दर प्रयोग अनेक छन्दों में हुआ है। अनुप्रास भी सर्वत्र सुन्दर रूप में आया है। 'एक चंचल-चितवन के व्याज तिलक को चारु छत्र-सुख लाभ' में कैतवापह्नुति है। 'आज बौरे भौंरे, सहकार' के 'बौरे' में श्लेष है।

[३] वितरती गृह-बन मलय-समीर

शब्दार्थ—**केशर**=फूलों के बीच की पतली सींकें। **लहलह**=हरा-भरा, प्रसन्न। **छद**=पत्ता। **कीर**=तोता। **सोच्छ्वास**=उच्छ्वास से युक्त, उमंग में भरी उसास लेता हुआ। **उत्कलित**=लहराता हुआ, खिला हुआ। **मान**=रूठना, अपने प्रिय के किसी दोष वा अपराध के कारण होने वाला मन का वह विकार जो उसे प्रिय की ओर से कुछ समय के लिए उदासीन कर देता है। कभी कभी यह केवल दिखाने के लिए होता है, आन्तरिक नहीं। **लोम-लतिका**=लोम (रोम, रोआँ) की लता, रोम-राजि। **गंध-गुंजित कुंज**=जिन कुंजों में फूलों की सुगन्ध और उनके ऊपर रस-पान के लिए मँडराते हुए भौंरों की गूँज भरी हुई है। **छायाऽलोक**=छाया+आलोक, अन्धकार और प्रकाश। **शात**=क्षीण, पतली, सुन्दर। **चिरसात्**=सदा के लिए मिला हुआ, चिर मीलित। **दिशावधि**=दिशा और काल की अवधि।

सङ्केत—इस कविता में वासन्ती प्रकृति का मादक चित्रण करके कवि उसको प्रेम के उद्दीपन के रूप में ग्रहण करता है। इसमें भौतिक वासना का खुला वर्णन है। किस प्रिया के प्रति के ये उद्गार हैं वही जानें।

व्याख्या—(वसन्त का) मलयानिल (सुवासित) श्वास, (प्रेम की बीती) स्मृति, (प्रेमियों के जीवन के रंगीन) सपने,

(फूलों की) सुगन्ध, (इन सब बातों से मन को उपलब्ध) सुख और (पक्षियों तथा भौंरों का मधुर) गान (अपने साथ ले कर) घर (और) वन में (सर्वत्र) बाँट (प्रदान कर) रहा है। (प्रेमियों को) मलय-पवन (पुष्पों के) केशर (पराग) के (नुकीले और सुगन्धित) बाण मार-मार कर (उनके) मन को उल्लास-मय करके प्राणों को (हर्ष से) रोमाञ्चित (करता है। अर्थात् वासन्ती शीतल, मन्द और सुगन्ध पवन से प्रेमियों के मन में प्रिय-मिलन का अभिलाष जगता है। कारण, प्रकृति में सर्वत्र उस अभिलाष को उत्पन्न करने वाली उद्दीपन की वस्तुएँ व्याप्त रहती हैं। उन्हें देख कर मन में प्रेम वा रति स्थायी उद्बुद्ध होता है।)

चञ्चल (तेजी से बढ़ती), छोटे छोटे चरण (रूपी पत्तियों) वाली, प्रसन्न (हरी हरी) नयी निकली हुई—सद्यः जन्मा (पत्तियों से) हरी भरी और सुकुमार (कोमल) लता (रूपी बालिका) के सदृश फैल-फैल (बांहें बढ़ा-बढ़ा) कर दक्षिणी हवा (पुष्पों के) सुवास (अथवा केशर) (के भार से (भारी) झुक-झुक कर (मस्ती से) झूमती हुई (प्रेमी के) शरीर से लिपट जाती है। (अभिप्राय यह कि नवजात लतिका लहलहाती हुई धीरे धीरे फैलती है और वृक्ष से लिपट जाती है। ऐसे ही हवा सुगन्ध के भार से दबी होने से मानो झुकी हुई मन्द मन्द चलती है तथा प्रेमी के शरीर से उसकी प्रेमिका की नाईं लग जाती है। उस सुवासित, शीतल, कोमल हवा के स्पर्श से प्रेमी को अपनी प्रेमिका के आलिङ्गन का-सा सुख मिलता है।)

(इस प्रकार शरीर में मलयानिल के लगने से कवि के भावुक मन को जान पड़ा कि) आज तिनके, पत्ते, पक्षी, हरिण (अथवा पशुमात्र), कोयल, शुक, फूल, कली, लता, वृक्ष (पशु, पक्षी, वीरुध सृष्टि के समस्त जीव-जन्तु और अचेतन तक प्रेमानुभूति से) लम्बी लम्बी उसासें ले रहे हैं। पृथ्वी, जल, पवन, अग्नि, और आकाश—(इन पाँचा तत्त्वों से निर्मित मानव और अन्य योनियों के) सम्पूर्ण (प्राणी प्रिय-समागम की उत्कण्ठा से) बेचैन, खिले हुए (प्रसन्न और) अधीर हो रहे हैं। (इस प्रकार कवि ने अपने मन को वासनामय पा कर संसार के सभी चेतन प्राणियों में ही नहीं अचेतन पदार्थों तक में अपनी सी अनुभूति की कल्पना वा अवतारणा की।)

(तभी उसने अपने भावावेश में अपनी प्रेयसी को सम्बोधित करते हुए कहा कि हे) प्राण-प्रिये, आज (वसन्तागम में) वन में कोकिल (आ गया है) और कोकिल में गान (फूट पड़ा है, पेड़ में कली (निकली है और) कली में (उसका) सुन्दर विकास (दृष्टि-गोचर है); फूल में पराग (और) पराग में मधु (शहद है), पानी में (उमंग की) लहर (है और) लहर में (नारी का प्रेमोदय की दशा का विलासमय) नृत्य (हो रहा है)।

(जैसे प्रकृति में प्रेम के अनुभाव इस प्रकार प्रकट हो रहे हैं वैसे ही हे मेरी प्राण-प्रिये, तुम्हारे) शरीर में (भी प्रेमोदय के कारण) रोमाञ्च, (हो रहा है), उरोजों में (प्रेमाधिक्य से) भार (पीनता का अनुभव होता है), भौंहों में भङ्गिमा (तिरछापन और) आँखों (में कटाक्ष) के बाण, अधर में अमृत (का माधुर्य

और हृदय में प्यार का (भाव उठता है,) वाणी में (नारी सुलभ) लज्जा (और) प्रणय में मान (प्रकट रूप में उदासीनता, किन्तु हार्दिक आकर्षण है)।

(हे मेरी) प्राण (प्यारी, मादक वसन्त के आने पर इस समय देखो) युवा (पुष्ट गात और) सद्वंश-जात (अच्छी जाति वा नस्ल के) वृक्षों से आलिङ्गन करके फुल्ल-शरीर (प्रसन्न-देह अथवा फूलों से लदी हुई) लताएँ (हवा के झोंकों से) काँपती (प्रिय-मिलन के समय के कम्प अनुभाव का प्रदर्शन करती हैं।) वे कोमल शरीर वाली (क्षीण आकार की सुकुमारी लताएँ) अपने प्रियतम तरुण तरु के आलिङ्गन से प्राप्त) सुख (की अनुभूति) से (वायु के झकोरे लगने से) रह-रह कर (थोड़ी-थोड़ी देर में शरीर की) रोम-राजि (बन कर) सिहर उठती हैं, कम्पित होती हैं।

(पुष्पों की) सुगन्ध (से पूर्ण एवं भ्रमरों के गुञ्जार तथा पक्षियों के कलरव से) गूँज रहे (प्रतिध्वनित) लता-मण्डपों में (प्रियतमा) छाया (और उसका प्रियतम) प्रकाश (एक-दूसरे के) भुजपाश में बँधे हुए (मिलन-सुख को भोग रहे हैं। और हे प्रिये), तुमको खड़ी देख कर (अपने) पत्तों (और) पंखुड़ियों अथवा पत्र-समूह के बहाने मरमर ध्वनि करते हुए छाता लिये वृक्ष (तुम्हारे स्वागत वा सत्कार के लिए खड़े है।)

(हे मेरी) प्राण (वल्लभे, देखो आज प्रकृति में नारी और नर वर्ग के सभी जीव ही नहीं अचेतन पदार्थ, यथा) नयी लताएँ (और) पेड़, शुकी (और) शुक, हंसिनी (और)

हंस, लहर (और) सरोवर, सुगन्ध (और) प्रातः कालीन पवन (तथा) हरिणी (और) हरिण, कली (और) भ्रमर (एवं) किरण (और) सूर्य (साथ हैं—एक-दूसरे से) मिल रहे हैं।

(इस प्रकार कामोद्दीपन होने पर कवि अपनी वासना को मूर्त्त रूप देता हुआ अमर्यादित-सा हो कर स्पष्ट कह बैठता है ये प्राकृतिक व्यापार मुझे आज काम-क्रीडा में खुल कर आसक्त दृग्गोचर होते हैं। अतः मेरी कामना है कि हे प्रिये, इस सुयोग में मेरे और तुम्हारे) अधरों से अधर (एक-दूसरे पर) समान (रखे हुए) मिल (कर एक हो) जायँ, नेत्रों से नेत्र, देह से देह, रोमाञ्च से रोमाञ्च, प्राणों से प्राण, भुजाओं से भुजाएँ और कटि से क्षीण कटि मिल जाय।

[इस अंश का अर्थ खोल कर लिखने को जी नहीं करता। कवि क्यों ऐसा नग्न चित्रण कर रहा है—समझ में नहीं आता। कविता में लक्षणा और व्यञ्जना का उपयोग न कर कवि क्यों इतना नीचे उतर आया है सब बातें अभिधा के द्वारा कहने के लिए ?]

(हे) प्राण (प्रिये,) आज (इस वसन्त में मेरे और तुम्हारे) तन और मन (एक-दूसरे से) मिल कर एक हो जायँ। (हम दोनों का) सुख और (जीवन की समग्र) स्मृति सदैव के लिए एक में मिल जाय। एक पल के लिए समस्त दिशाओं और काल की सीमा न रह जाय (थोड़ी देर के लिए हमें पूर्ण विस्मृति हो जाय—ऐसे लीन हो जायँ एक दूसरे में कि हम दोनों पूर्णतया आत्मैक्य का बोध करते हुए स्थान और समय का भेद

एकदम भूल जायँ। बस हम दोनों द्वैत से रहित) नाम और रूप (के भेद से) अपरिचित, अबोध हो कर एक रस हो जायँ (पूर्णतया एक में ही मिल जायँ।)

दोष—'पहले छन्द में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध को एक वाक्य मान कर अर्थ करने से 'मलय समीर' की अनावश्यक आवृत्ति से 'पुनरुक्ति दोष' है। यदि इन्हें अलग अलग वाक्य मानें तो उत्तरार्ध में क्रिया के अभाव के कारण 'न्यूनपदत्व दोष' होगा। 'बितरती गृह-वन मलय समीर,' 'लिपट लगती मलयानिल गात' में 'समीर' और 'अनिल' का प्रयोग स्त्रीलिंग में होने से च्युतसंस्कृत दोष है। छठे छन्द में 'सिहरतीं लतिका' में लतिका के एकवचनान्त रूप के कारण 'व्याकरण विरुद्ध' दोष है।

आठवें छन्द में अन्य सब में नारी-नर का क्रम है, किन्तु हंस-हंसिनी में यह क्रम उलट कर नर-नारी कर दिया गया है। यह 'क्रम-भंग' दोष आँखों को खटकता है।

नवें छन्द के अन्तिम चरण में अश्लीलत्व दोष है। शृङ्गार का ऐसा नग्न वर्णन उचित नहीं।

अलङ्कार—पहले छन्द में रूपक, दूसरे में उपमा, चौथे में सार और नवें के उत्तरार्ध में कैतवापह्नुति अलङ्कार है। 'पत्र-दल' में पुनरुक्तवदाभास है। अनुप्रास तो सर्वत्र है।

[२७] रूप-तारा तुम पूर्ण प्रकाम

शब्दार्थ—प्रकाम=कामना, इच्छा। **पूर्ण प्रकाम**=पूर्णकाम, जिसकी इच्छाएँ पूरी, सन्तुष्ट वा तृप्त हो चुकी हों। **परिवेश**=(हलकी बदली में दिखायी देने वाला) सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिष्कों के चारों ओर का प्रकाशमान घेरा; मण्डल। **अप्सरी**=अप्सरा। इन्द्र की सभा में नृत्य करने वाली देवांगना। इसके पंख नहीं होते। जैसे हिन्दू स्वर्ग को मानते हैं वैसे ही इस्लामी विश्वास में बहिश्त माना जाता है। वहाँ 'हूर' की प्राप्ति होती है। फारस की जनश्रुति के अनुसार 'काफ' पर्वत पर

बसनेवाली पंखों से युक्त परमसुन्दरी काल्पनिक 'परी' को, जान पड़ता है, भूल से 'हूर' का पर्याय मान लिया गया। फिर हिन्दी के कुछ कवि परी और अप्सरा को भी समानार्थी मान बैठे। यहाँ भी यही भूल हुई है। तभी स्वर्ग की अप्सरा को उड़ने के लिए प्रेम के पंख दे दिये गये हैं। **छविमान**=छबीला, सुन्दर।

सङ्केत—इस रसमयी कविता में कवि की मानसिक प्रेयसी के रूप की अवतारणा है। उसने उस अलौकिक सुन्दरता का शब्द-चित्र अङ्कित कर के उसकी भौतिक प्राप्ति की कामना प्रकट की है। ये उसके उठते यौवन के उद्‌गार हैं और इनको सामान्य युवक की रसिकता के भाव भी कहा जा सकता है।

कुछ लोग इसमें प्रयुक्त 'तारा' नाम को व्यक्ति-वाचक मान कर किसी वैयक्तिक सम्बन्ध को भी टटोलने की चेष्टा कर सकते हैं। आरम्भ के कई छन्दों से ऐसा सिद्ध भी किया जा सकता है। किन्तु कविता का उपसंहार इस प्रकार की ऊहापोह को निरर्थक प्रकट करता है। फिर भी इसमें अध्यात्मपरक प्रेम के उच्छ्वास की अभिव्यक्ति का समर्थन करना समीचीन नहीं होगा।

व्याख्या—हे रूप (सौन्दर्य में) तारा, तुम पूर्ण-काम (हो, तुम्हारी सब इच्छाएँ पूरी हो चुकी हैं। हे मृगनयनी, तुम्हारा यह (तारा) नाम (सचमुच) सार्थक है। (तुम यथानाम तथा गुण हो—जैसे तुम्हारा नाम तारा है वैसे ही तुम में तारा के प्रकाश, आकर्षण, सौन्दर्य और लावण्य आदि गुण भी हैं।)

हे निरन्तर स्थिर रहने वाली (एक सी दशा में सदैव विद्यमान), सुचिक्कण (स्नेह सिक्त), अमन्द (कभी कम न होने वाली), निर्दोष (और) पूर्ण सुन्दरता रूपी (अग्नि वा प्रकाश की) लौ, हे तारिकाओं के मध्य संगीत-लहरी की उठान (तारिका वृन्द

में सबसे श्रेष्ठ तारा, तुमने) शोभा से परिपूर्ण (छविमान) एक सौन्दर्य के संसार में (अब तक अज्ञात, पहले पहल) उदय हुए नक्षत्र के समान (मेरी) आँखों के सम्मुख निर्मल (रूप में) प्रकट हो (दर्शन दे) कर, (अपने प्रकाशमान मुखमण्डल के चतुर्दिक) प्रेम का (प्रभामय) मण्डल रच कर (मेरा) मन रूपी आकाश-मण्डल (अपनी कान्ति से) चमका दिया। (अभिप्राय यह कि अब तक विश्व में जो सुन्दरता थी तुम उससे कहीं बढ़ कर हो। जब से मैंने तुम्हें देखा तब से तुमने मेरे हृदय को नया प्रकाश दिया है।)

तुमने आनन्द का स्वर्ण (-प्रभा से पूर्ण) सौभाग्य और लज्जा तथा रक्तवर्ण का अनुराग सजा कर उषा के सदृश (मेरे) सुनहले (जीवन के) आरम्भ के प्रभात में (अपना) सुवर्ण का (गोरा) किशोर (वय का) मुँह दिखला कर (अपनी) आँखों में प्रेम की कड़ी (अनी वाली हृदयबेधक) अत्यन्त मदमाती नोक छिपा कर (पदार्पण किया और अपना) यौवन (रूपी पर्वत का) शिखर (अर्थात् चढ़ता यौवन) ओर से छोर तक (पूर्णतया अपने) रूप की किरणों में डुबा कर (भर कर, आप्लावित कर) परिव्याप्त कर दिया। (तात्पर्य—उषा सौभाग्य के सदृश ललाई से मण्डित और प्रियतम सूर्य के मिलन के कारण उत्पन्न लज्जा की लालिमा और अनुराग के लाल रंग से भरी हुई आती है। वह पहले अपना सुनहला मुख थोड़ा थोड़ा दिखलाती है। वह मदिरा के समान गहरे लाल रंग को अपनी मदमाती रतनारी आँखों की कोरों में छिपाये-सी रहती है।

धीरे धीरे वह बढ़ती है। जब पूर्णता प्राप्त कर लेती है तब यौवन के पूर्णागम के समय उसके सौन्दर्य का प्रकाश आकाश में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। इसी प्रकार कवि के यौवन के प्रारम्भ में किशोरी तारा की मदिरालस रतनारी आँखों का प्रभाव पड़ा। फिर युवती होने पर अनुराग से पूर्ण उन आँखों ने उसके जीवन को पूर्णतया वश में कर लिया।)

(अब कवि उस प्रेयसी तारा से अनुरोध करता है कि) हे सुन्दर मुखवाली, (तुम मेरी) इच्छा के अनुरूप मनोहर नयन-तारा (मेरी आँखों की पुतली) बन कर अपना (तारा) नाम सार्थक करो) तुम्हारा तारा नाम है, अतः तुम उसके अर्थ के अनुसार मेरे नेत्रों में आ कर बसो।)

हे चाँदनी की (मनःकल्पित मन्द वा मधुर) झङ्कार (ध्वनि-सी प्रिय,) तुम लघु तारा की सी दिव्यरूप-धारिणी (एवं) निवारण न की जा सकने वाली (अबाधगति) हलकी अप्सरा की नाईं (अपने) प्रेम (रूपी) पंखों से उड़ कर, क्या (प्रेम के) उद्गारों को साथ में लिये हुए चाँदी की सी प्रेम-क्रीडा और सोने का सा विहार (कल्पना में आ सकने वाला सबसे सुन्दर विलास) करने के लिए, हे प्रणय की सुकुमारी हंसिनी, (मेरे) हृदय रूपी सरोवर में (प्रिय-मिलन के पूर्व-निर्दिष्ट सङ्केत स्थल में) अभिसार करने के लिए आयी हो? (अर्थात् स्वर्ग की ज्योत्स्ना एवं तारिका रूपिणी तुम अत्यन्त सूक्ष्म देह से स्वर्ग की अप्सरा के समान पृथ्वी पर उतर कर मेरे हृदय-सरोवर में प्रीति की हंसिनी बन रति-विलास करने आयी हो। तुम स्वर्ग की देवांगना-सी हो।

मेरे लिए भूलोक में पधारी हो।)

हे क्षीण देह, तुम चमकते हुए (दीप्तियुक्त) विमान (वायुयान) के रूप की सी हो, (जो आकाश में उड़ते समय अपने पीछे पीछे प्रकाश की झलकती उज्ज्वल रेखा सी छोड़ते हुए आगे बढ़ता और अपनी जाज्वल्यमान स्मृति दर्शक की आँखों में छोड़ जाता है। तुम) प्रेम (के संसार) की नयी रचना हो। (तुम) अपनी शुभ्रता में निमग्न सुन्दर चित्रा (नक्षत्र) की सी (अपनी) कान्ति में स्थित हो (अपने दिव्य सौन्दर्य में चित्रा की सी उज्ज्वल शोभा धारण किये हो।) हे लज्जा रूपी पानी की (चञ्चल) मछली, तुमने (लज्जा के कारण अपने शरीर के विविध अवयवों को) अधिक छिपाने के कारण (अर्थात् एक को छिपाने के कारण दूसरे के) अनजान में खुल जाने से (उसको दिखला कर मेरे) नेत्र और मन को (मुझसे बरबस) छीन कर (नेत्रों की) पलकें और (मन के) प्राण निष्पन्द (निश्चेष्ट) कर दिये। (अर्थात् मेरे सामने आ जाने पर लजा कर तुम अपने अङ्गों को जल्दी जल्दी वस्त्रों से ढक कर छिपाने की चेष्टा करती हो। किन्तु एक ओर वस्त्र से तुम कोई अङ्ग आवृत करती हो तो दूसरी ओर दूसरा खुल जाता है। यह तुम देख नहीं पातीं, परन्तु मैं देखता हूँ। उस समय मेरी पलकें नहीं गिरतीं, मेरे हृदय की गति रुक जाती है। मैं एकाग्र चित्त हो एकटक इस प्रभा से पूर्ण एवं गतिशील सौंदर्य के जगत् की नयी रचना को देखता रह जाता हूँ। तुम अपना अलौकिक प्रकाश स्मृति पटल पर अङ्कित करती देखते देखते वैसे ही ओझल हो जाती हो जैसे आकाशगामी वायुयान अपने पीछे

उज्ज्वल प्रकाश की उस रेखा को छोड़ता हुआ विलीन हो जाता है जो धीरे धीरे आँखों की स्मृति में रह जाता है।)

(अतः हे) प्रिये, (तुम मेरे) हृदय रूपी आकाश की (मनोहारिणी) तारा बन कर (उसको प्रकाशित करके) अपना (तारा) नाम सार्थक करो (जैसा तुम्हारा तारा नाम है वैसा ही काम भी करो अर्थात् मेरे हृदयाकाश में आ कर उसका अन्धकार दूर करके उसे प्रकाशित कर दो।)

मेरा पहला यौवन वसन्त है। (उसमें मेरा तुम्हारे प्रति) मोहित मन भ्रमर है, (और हे) प्राण (प्रिये,) तुम (उस भ्रमर के लिए पुष्प में सञ्चित) मधु हो। (अर्थात् जैसे वसन्त में खिले फूल का मधु पान करने के लिए भौंरा लालायित होता है वैसे ही यौवन की पहली उठान में मैं तुम्हारे रस का आस्वाद लेने के लिए उत्सुक हूँ। मेरे सोते समय के, अर्थात्) निद्रित नेत्रों (के भीतर तुम्हारी) स्मृति सपने में प्रियतमा की अनुराग-सूचक चेष्टाएँ हैं (और) प्यारी तन्द्रा (ऊँघ) ही प्रिय का ध्यान है। (अर्थात् सोते समय मुझे तुम्हारी मेरे प्रति की गयी अनुराग-सूचक चेष्टाओं का स्वप्न दिखलायी पड़ता है और तन्द्रावस्था में तुम्हारा ध्यान बना रहता है। मेरा यह) सूना जीवन (जिसमें अभी कोई दूसरा साथी नहीं है और जो अभी तक अकेला है, तारा-हीन) निर्जन (शून्य) आकाश है। (उसमें सुशोभित तुम्हारा) चन्द्र (का सा सुन्दर, उज्ज्वल और देदीप्यमान) मुँह चन्द्रमा के सदृश है। (मेरे इस एकाकी जीवन को तुम्हारा मुख-मण्डल प्रकाश देता है। मेरे) हृदय रूपी लघु सरोवर में (तुम्हारी) शोभा का कमल खिला

है। उस (हृदय) की इच्छाएँ (उस सरोवर की लहरों के उठने से उत्पन्न) उछलता हुआ (तरङ्गित) गाना है। (अर्थात् मेरे हृदय में तुम खिली हो। इस आनन्द से इच्छाओं की उमंगें उठ रही हैं।)

(मेरी कवि-) कल्पना (में जो कुछ भी सुन्दर से सुन्दर आ सकता है वह सब) तुममें (मिल कर) एकरूप (हो कर तुमसे अभिन्न हो गया है।) (अर्थात् मेरी कल्पना में तुम्हीं तुम हो, अलग उसका अस्तित्व नहीं रह गया।) तुम (मेरी) कल्पना में दिन-रात (बसी रहती हो।) तुम्हारी सुन्दरता (वा मूर्त्ति) में प्रेम का ओर छोर नहीं; (मेरे) प्रेम में (तुम्हारी) मनोहर मूर्त्ति (रहती) है। हे मेरे मन की निर्मित, (मेरी कल्पना की सृष्टि,) तुम मेरी समस्त इच्छाओं की समष्टि को अपनी सुन्दर सुवर्ण-मूर्ति (के रूप) में गढ़ (सँवार) कर साकार हो गयी हो। (अर्थात् तुम मेरी सम्पूर्ण कामनाओं की मधुरतम मूर्तिमती सत्ता हो। देखने में मेरे और तुम्हारे) दो शरीर हैं, (किन्तु वास्तव में उन दोनों शरीरों अर्थात् हम दोनों के) प्राण एक है। (अभिप्राय यह है कि मेरी समस्त इच्छाओं का अमूर्त रूप तुम्हारे स्वर्ण-कान्त शरीर के रूप में मूर्त हो गया है—तुम मेरी सम्पूर्ण कामनाओं की मूर्त्त रूप हो। तुम मेरी मानसी-सृष्टि हो। तुम और मैं अभिन्न हैं।)

[इस प्रकार इस कविता की अन्तिम आठ पंक्तियों में कवि ने विचित्र शब्द-जाल बिछा दिया है। कहा जा सकता है कि आरम्भ में जिसको तारा कह कर संबोधित किया गया है वही उसकी मनःकल्पित सुन्दरता की समष्टि से निर्मित अपार्थिव नारी है।]

दोष—अप्सरा को 'अप्सरी' बनाना कवि की स्वच्छन्दता है।

अलङ्कार—उपमा, रूपक, क्रम ('लोचन-मनै छीन कर दिए पलक-प्राण गति-हीन' में), परिकराङ्कुर।

[२८] कलरव किसको नहीं सुहाता ?

शब्दार्थ—**रज को रजत बनाता**=वायु में व्याप्त धूल के कणों पर सूर्य की किरणें पड़ने से उनमें चाँदी के कणों की-सी चमक दिखलायी देती है। यही उषा के द्वारा रज को रजत बनाना है। इसमें तुच्छ वस्तु को बहुमूल्य बना देने का भी सङ्केत है। **कलानाथ**=चन्द्रमा। **यह लघु लहरों···खिंच आता**=इसमें पूर्ण चन्द्र के आकर्षण से समुद्र की लहरों के उठने, उनमें ज्वार आने, के प्राकृतिक व्यापार का कवि के द्वारा सुन्दर उपयोग किया गया है। वस्तुतः चन्द्रमा के द्वारा लहरें उठती हैं, परन्तु यहाँ कवि लहरों के द्वारा चन्द्रमा का अपनी ओर आकर्षित किया जाना बतलाता है।

व्याख्या—(प्रभात काल आने के पहले पक्षियों का) चहचहाना (अथवा बच्चों का मधुर तोतला बोल) किस (व्यक्ति) को भला नहीं लगता ? कौन इसको अङ्गीकार नहीं करता ?

यह शिशु-काल (वा अवस्था) का भोला-भाला (निश्चल, निष्कपट) हास्य है, जो हृदय से (निकल कर) अकस्मात् (मुँह पर) आ जाता है। (जैसे यह बाल्यकालीन हँसी स्वाभाविक होती है, इसमें प्रौढ़ की-सी बनावट नहीं होती और यह अपने आप भीतर से बाहर फूट पड़ती है वैसे ही यह कलरव निष्कपट हृदय का उद्गार है। इसी से यह) किसे अच्छा नहीं लगता ? ऐसा कौन है जो इसको अपना नहीं करता (वा बनाता) ?

यह (कलरव) उषा का नवोदय है जो (अपने प्रकाश से मानव-हृदय के) रज (धूल) के कणों को चाँदी (के कणों के चमकदार रूप में) कर देता है। (इससे मनुष्य का कलुषित मन अपनी दुर्भावनाएँ निकाल कर आनन्दमय दशा में निर्मल बन जाता है।)

(यह) कलरव सब को अच्छा लगता है। सभी इसको स्वीकार करते हैं। यह (समुद्र की) छोटी (छोटी) लहरों की प्रसन्न करने वाली क्रीडा है, जिससे चन्द्रमा (उनकी ओर) आकर्षित हो कर आ जाता है। (आकाश का चन्द्रमा छोटी-छोटी लहरों की उल्लासमयी चेष्टाओं से मुग्ध हो कर उतनी दूर से उनके पास आ कर मिल जाता है। ऐसे ही दूर के जो लोग भी इस आनन्द-भरी चहचहाहट को सुनते हैं वे सब इसकी ओर खिच आते हैं। तभी यह सब को अच्छा लगता है।)

अलङ्कार—अनुप्रास, रूपक।

[२९] अलि ! इन भोली बातों को

शब्दार्थ—**अलि** = सहेली, सखी। **आँख-मिचौनी** = लुका-छिपी, क्षणभर के लिए दिखलायी पड़ना और तुरन्त ही छिप जाना। **इन्द्र धनुष-पंख** = इन्द्र-धनुष के विविध रंग रूपी पंख, रँगीले भाव। **चटुल** = चञ्चल, सुन्दर।

सङ्केत—प्रेमी अपनी प्रेमिका के साथ बहुत रहस्य संलाप कर चुका है। रह रह कर उसको उनकी स्मृति आती है। वह उनको अभिव्यक्त करने के लिए छटपटाने लगता है। यही इस गीत का विषय है।

व्याख्या—(हे मेरे जीवन की) संगिनी, (मैं तुम्हारे प्रेम की) इन सरल (जी खोल कर की गयी) बातों (अथवा चेष्टाओं वा क्रियाओं) को भला अब कैसे छिपा सकता हूँ ? (इनको मन में छिपा रखने की क्षमता अब नहीं । तुम्हीं बताओ कि मैं इस प्रकार अब तक लुक-छिप कर किये गये प्रेमालापों वा स्नेह-व्यापारों की) लुका-छिपी से (अपना) मन कितने समय तक बहलाया करूँ ? (अर्थात् प्रेम की छिप-छिप कर की गयी बातों को खुल कर किये बिना अब मुझसे रहा नहीं जाता । मैं अब प्रकट रूप से उनका आनन्द लूँगा ।)

क्या मेरे (मन में तुम्हारे प्रेम के कारण उठने वाली अगणित) सुकुमार मधुर भावनाओं को (आकाश से रात भर निरन्तर देखने वाले ये) तारे आज गिन सकेंगे ? (नहीं, अब मैं तुम्हारे प्रेम की बीती बातों को रात भर चुपचाप मन ही मन गुनता न रहूँगा । तुम्हीं) कहो, (क्या) मैं इनको (प्रभातकाल में फूलों, पत्तों और घास के ऊपर बिखरी हुई) ओस की बूँदों के समान फूलों के ऊपर बिखेर आऊँ (जिससे संसार उनके मोती जैसे निर्मल और लुभावने रूप को देख कर मुग्ध हो सके ?)

(हे मेरी) सहेली, ये (मेरे मन के मधुर भाव अभी तो) अपने सुख के स्वतः अनुभव से (भीतर ही भीतर) विकसित हो-हो कर (जल को) छोटी-छोटी लहरों के सदृश (वहीं) उठते हैं । क्या मैं (उमङ्ग से परिपूर्ण हो) इन (भाव-लहरियों) के साथ नाच (उठूँ और) इनमें ही आत्म-समर्पण कर दूँ ?

ये (रंग-बिरंगे, रँगीले भाव अब अभिव्यक्त हो कर) अपने

इन्द्र-धनुषी (सत-रंगे) पंखों (को फैला कर उन) से (रंग-बिरंगी) तितली के समान उड़ते (प्रकट होते) हैं। क्या मैं भी (जगत् रूपी वाटिका में खिले हुए) पुष्पों के वन में इन (भाव रूपी तितलियों) के साथ ही उड़ जाऊँ (और उन विविध प्रकार के मुकुलित पुष्पों के सदृश प्रसन्न प्राणियों के समुदाय में विचरण करूँ ?)

(पानी के भीतर छिपी हुई) चञ्चल मछलियों के समान उछल (ऊपर आ) कर (क्षण भर के लिए अपना) मुख (सौंदर्य) दिखला कर ये (मेरे मन के भीतर छिपे हुए स्थायी भाव उदय हो कर फिर तुरन्त ही) छिप (विलीन हो) जाते हैं, क्यों (ऐसा होता है) ? (तू ही) बतला। (क्या मैं अपने) हृदय रूपी लघु सरोवर में डूब (अपने अन्तस्तल में पैठ) कर इन (भावों) के मोती (इनके मधुरतम रूप वहाँ से) छाँट छाँट कर एकत्र कर लाऊँ ? (क्या अपने अभ्यन्तर के मनोहर भावों को गीत के रूप में अभिव्यक्त करने के लिए उनका सञ्चयन करूँ ?)

हे आली, (प्रतिपदा से पूर्णिमा तक नित्य वर्द्धमान) चन्द्रमा की-सी बङ्किम कलाएँ देखो। ये (मेरे मन के भाव उन्हीं के समान) रात-दिन (निरन्तर) बढ़ते हैं। (क्या मैं उस पूर्णचन्द्र रूपी मुख के आकर्षण से) समुद्र की (लहरों की) तरह उमड़-उमड़ (उमङ्ग से बढ़-बढ़) कर (उस चन्द्र के निवास) आकाश के छोर को स्पर्श कर आऊँ ?

ये (भाव अन्तर की मानसिक सन्दिग्धता की अवस्था अर्थात्) द्विधा रूपी (रात के) अन्धकार में चुपके-चुपके जुगुनुओं

के समान प्रदीप्त हो जाते हैं (मन के भीतर रह-रह कर अपना प्रकाश चमका देते हैं। तुम) बतलाओ, (क्या मैं) इन (उद्दीप्त भाव रूपी जुगुनुओं) के नये दीपों के द्वारा (सुसज्जित) तारों का आकाश निर्मित करूँ ? (अपने शून्य हृदय रूपी आकाश को इन भाव-रूपी तारों से अलंकृत करूँ ?)

(इस प्रकार भावों की अभिव्यन्ति का रूपक चरमोत्कर्ष तक पहुँचने वाला था कि कवि का विचार-परिवर्तन उसे उससे विरत करने के लिए आ खड़ा हुआ। वह बोल उठा, कि तारों से जगमगाते शून्य (आकाश अथवा सूने) हृदय को भाव के नये दीये जला कर देदीप्यमान करना ठीक) नहीं। (कारण,) मेरी कितनी ही (पिछली) बातें (प्रभात के आगमन के समय आकाश के) पीले (पड़े) तारों के समान (मन में उठ कर वहीं) कुम्हला गयीं (खिल न सकीं, फिर भी मैं) इनको कैसे विस्मरण करूँ ? (ये भुलाई नहीं जा सकतीं।)

अलङ्कार—भिन्नधर्मा मालोपमा, रूपक।

[३०] आँखों की खिड़की से उड़-उड़

शब्दार्थ—**सुभग**=सुन्दर। **अस्फुट**=अव्यक्त। **अस्फुट स्वर**=मौन वाणी से, चुपचाप, बिना बोले।

सङ्केत—दूसरों के बतलाये वा कहे बिना ही उनके मन के भावों से प्रभावित होना, संवेदनशील कवि का स्वाभाविक गुण है। इस गीत में कवि अपनी इसी संवेदनशील प्रकृति का परिचय देता है।

व्याख्या—(दूसरे लोगों के भाव रूपी पक्षी उनके मन रूपी पिंजड़े वा भवन के भीतर से उनकी) आँख रूपी खिड़की

से (निकल कर बाहर) उड़-उड़ कर चले आते हैं। ('नैना देत बताय सब, हिय को हेत अहेत' के प्रमाण से दूसरों के मन के भाव उनकी आँखों से प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार) प्रत्येक (व्यक्ति के) अन्तस्तल के आनन्दपूर्ण भाव रूपी सुडौल पक्षी मेरे पास (उड़ कर) आ पहुँचते हैं। (मैं दूसरों के सुखद, सुन्दर भावों की अनुभूति करता हूँ उनकी आँखों को देख कर।) जब (मुझे कहीं वा कभी आनन्द से) खिले हुए मानव-समुदाय—(उनकी) आँखों का सद्यः प्रफुल्ल वसन्त का वन—मिलता है (तब उनकी) पलक रूपी कोमल (पुष्प-) पटलों (पद्मों वा दलों) के ऊपर मँडराते हुए ये पक्षी मिलते है। (प्रसन्नमन मनुष्यों की उल्लास से छलकती आँखों की पलकों के ऊपर मुझे उनके भीतर छिपे आनन्द के भाव दिखलायी पड़ते हैं।)

ये (भाव-पक्षी उन प्रसन्नचित्त व्यक्तियों के मन-मन्दिर से उड़ कर आते और) अपने सुकुमार पंखों से (मेरे) शरीर (एवं) हृदय को स्पर्श करके (उन्हें) रोमाञ्चित (और प्रसन्न) कर देते हैं। (अर्थात् अन्य व्यक्तियों के आह्लाद के जो भाव उनकी आँखों में दिखलायी देते हैं वे मेरे मन को प्रसन्न करते हैं। इसके साथ ही वे नेत्र) प्रतिपल (अपने) मन की बातें गुपचुप ही मेरे हृदय से कह देते हैं। (दूसरों की आँखें देख कर ही मैं उनके मन के भावों की प्रतिक्रिया और तद्वत् अनुभूति अपने मन में करने लगता हूँ।)

(इस प्रकार कवि का निष्कर्ष है कि) प्रत्येक हृदय में

कोमल भाव रूपी पक्षियों के सुन्दर घोंसले रहते हैं। (प्रत्येक मन में कोमल स्थायीभाव रहते हैं।) ये मन के (भाव रूपी) सुन्दर सुनहले पक्षी एक (व्यक्ति) के हृदय से दूसरे (व्यक्ति) के हृदय में उड़ते (रहते) हैं। (अर्थात् एक के भाव दूसरे के मन में अपने सदृश दशा उत्पन्न किया करते हैं।)

अलङ्कार—रूपक, परम्परित रूपक, पुनरुक्तिप्रकाश।

[३१] जीवन की चञ्चल सरिता में

जाली=जाल। **डाली**=डलिया, चंगेर। **निस्तल-जल**=जिस जल के तल का पता न हो, अथाह जल। **चल जल-माली**=बहते पानी की मालिका, चञ्चल जल की अवली।

सङ्केत—जीवन के व्यावहारिक रूप में ही हृदय के अच्छे अच्छे अभिलाषों की पूर्ति होनी चाहिये। उसको छोड़ देने और एकान्त साधना करने से कोई अलभ्य तत्त्व नहीं मिलता। मनुष्य के लिए यही सच्चा मार्ग है। कवि इसी निष्कर्ष को इस गीत में मनोहर रूपकों के द्वारा व्यक्त करता है।

व्याख्या—जीवन (जल) की द्रुतगामिनी नदी में मैंने (अपने) मन की जाली डाल दी। उसमें भोली भाली सुन्दर मनोहर भाव रूपी मछलियाँ फँस गयीं। (मैंने जीवन के प्रवाह में अपने मन को छोड़ दिया। वहाँ मुझे अनेक मनोहर भाव हाथ लगे।)

(उस जीवनरूपिणी सरिता के) पुष्पों से युक्त तटों (के सौन्दर्य) से मुग्ध हो मैंने लुब्ध हो कर (उनको) देखा। (वहाँ मैंने) बहुत से रूपों (आकृतियों), वर्णों और रेखाओं की (मूर्त्तियों के सदृश रंग-बिरंगी विविध प्रकार की आन्तरिक)

इच्छाओं का निरीक्षण किया। (तात्पर्य यह है कि जीवन के प्रवाह में आकर्षक पदार्थों को देख कर मैं उन पर ललचा गया। फलतः मेरे मन में अनेक प्रकार की मुग्ध करने वाली लालसाएँ जगीं।)

(उन असंख्य इच्छाओं में) आनन्दपूर्ण, सुन्दर (और) शोभन इच्छाओं को अच्छी समझ कर (मैंने उन्हें अपने लिए) छाँट लिया और उनके सोने-चाँदी (बहुमूल्य, सुन्दर रूपों) से (अपने) प्राणों की प्यारी डलिया को परिपूर्ण कर लिया। (आशय यह कि मन में उठने वाली बहुत सी अच्छी अच्छी इच्छाओं में जो इच्छाएँ सबसे अच्छी थीं उनको मैंने अपनाया और उनसे अपने प्राण सजाये—अपने प्राणों को सुन्दर बनाया, अपने प्राणों का बाह्य सौन्दर्य बढ़ाया।)

(मैं लोगों के मुँह से यह) सुनता हूँ कि (जीवन-सरिता के) इस अतल (बहुत ही गहरे) पानी में मुक्ता देने वाली (अथवा मुक्ता को) मछली रहती है। (लोग कहते हैं कि जीवन की गहराई में प्रवेश करने से ही मोती रूपी बहुमूल्य तत्त्व हाथ लगता है।) परन्तु (कवि कहता है कि उस गम्भीरता में पैठने से मुझे डर लगता है कि मैं (उस जीवन में) डूब न जाऊँ (जीवन के विषयों में आसक्त हो कर उनमें फँस न जाऊँ। अतएव मैं उसके भीतर घुसना नहीं चाहता। अतः मुझे तो जीवन-सरिता के) किनारे के बहते हुए पानी की ऊर्मियाँ ही अच्छी लगती हैं। (मैं तो जीवन के गम्भीर तत्त्वों की खोज में अपने को खो देने की आशङ्का से उनकी ओर न जा कर उसके

सामान्य रूप को ही अधिक अच्छा समझता हूँ।)

(इसका कारण यह है कि) वह मोती (देने) वाली सुन्दर मछली (जीवन की गहराई में सदा नहीं रह सकती। एक न एक दिन बाहर की हवा में श्वास लेने लिए) मेरे किनारों (जिन किनारों पर बैठा हुआ मैं जल का प्रवाह देखता हूँ उन) पर वह (अवश्यमेव) आयेगी। तब प्रवहमान जीवन-नदी की) तरङ्गों के किनारे पर बैठा हुआ मैं उस (मछली) की सुन्दरता को छक कर देखूँगा। (अर्थात् मैं नित्य प्रति के जीवन की सामान्य बातों में ही उसका वह गम्भीर तत्त्व पा जाऊँगा जिसके लिए कुछ लोग उनसे मुँह फेर कर उसके भीतर से कुछ असाधारण बात पाने का परामर्श देते हैं।)

दोष—जान पड़ता है कि 'चल जल-माली' में माली (=जो माला पहने हो) का प्रयोग 'माला' (=पंक्ति, अवली) के अर्थ में किया गया है। यह कवि की मनमानी है।

अलङ्कार—परम्परित रूपक।

[३२] मेरा प्रतिपल सुन्दर हो

शब्दार्थ—**जीवन**=जन्म से मृत्यु तक का समय, जल।

व्याख्या—(कवि अभिलाष करता है कि मेरे जीवन का) प्रत्येक क्षण बढ़िया हो, प्रति दिन सुन्दर (और) आनन्दप्रद हो।

एक एक पल (के योग) का (बना) यह छोटा सा (अल्प-कालीन मेरा) जीवन अच्छा, सुखदायक और पवित्रतर (पहले की अपेक्षा अधिक शुद्ध) हो। (भले ही नदी के जल की) बूँदें (अपने स्थान में कितनी ही) अस्थिर (तथा अन्य

पदार्थों से) अपेक्षाकृत छोटी (क्यों न) हों, (किन्तु वे) समुद्र में (पहुँच कर उसके अपार जल से मिलते ही) सागर हो जाती हैं (—लघु से विशाल बन जाती हैं। ऐसे ही मेरे जीवन का एक क्षण अलग देखने पर कितना ही अल्प क्यों न हो किन्तु उस प्रकार के अनेक क्षणों की समष्टि से निर्मित यह जीवन तो विराट है। उस जीवन का एक-एक क्षण सुन्दर हो जाने पर समग्र जीवन भी सुन्दर हो जायगा। अतएव मैं चाहता हूँ कि) इस जीवन की एक घड़ी (समुद्र के जल में पड़ी स्वाति के जल की एक बूँद से बने हुए) मोती के सदृश सरस (रसमय, आबदार-चमकदार और) सुन्दर हो जाय।

वसन्तऋतु के फूल (अपने रूप के कारण) सुन्दर होते हैं। (खिले हुए) फूलों की वसन्त ऋतु (किसी अन्य काल से) अधिक प्यारी होती है। (फूलों के बिना मधु ऋतु की कल्पना भले ही की जा सके, किन्तु वह अच्छी न लगेगी। अथवा—फूलों की मधु—शहद—ही प्रियतर होती है) अतः मेरी कामना कि मेरे) मन की एक कली (रूपी एक घटिका) खिली हुई, मोदयुक्त (और) रसमयी बने। (और इस प्रकार वह जीवन को हर्षोत्फुल्ल वसन्त के समान आनन्दमय बना दे।)

मेरे (जीवन के) किसी क्षण में (किसी प्रकार का) भय न रहे, संशय (शंका वा आशंका) न रहे (और वह) कल्याण-कारी हो। नये नये क्षणों (की समष्टि से बना मेरा) यह जीवन प्रत्येक पल में तदाकार (एक-एक क्षण एक ही रूप का, एक जैसा) हो जाय, एक सा हो जाय। (आशय यह है कि मेरे जीवन के

सभी चरण एकाकार सुन्दर हों।)

दोष—प्रमुदित और मोदित समानार्थक होने के कारण बारहवें चरण में पुनरुक्ति दोष है।

अलङ्कार—'यह एक बूँद जीवन का'—यहाँ 'जीवन' में श्लेष है। 'मोती सा सरस, सुघर हो'—में उपमा और अनुप्रास है। अन्यत्र भी अनुप्रास है।

[३३] आज शिशु के कवि को अनजान

सङ्केत—इस गीत में कवि उन वस्तुओं का उल्लेख करता है जिनकी प्रेरणा से वह अपनी नवीन कविता रचने में समर्थ होता है।

व्याख्या—आज इस शिशु रूपी कवि को अज्ञात रूप में ही अपना (अभीष्ट वा स्वाभाविक) गाना प्राप्त हो गया। (जैसे शिशु अपना गाना नहीं जानता, किन्तु एक दिन अपनी ओर से किसी प्रकार का प्रयत्न किये बिना अथवा अकस्मात् ही उसके कण्ठ से गान फूट पड़ता है, वैसे ही कवि को अपने काव्य का वास्तविक रूप उपलब्ध हो गया, किन्तु वह कैसे मिला, किस क्षण मिला—यह उसको विदित नहीं हो सका।)

(अब वह उस कविता के रूप का वर्णन करता है कि पुष्पों की) कलियों ने (अपने) हृदय के भीतर के द्वार खोल कर (अपने अन्तर के सौंदर्य को अपने पूर्ण विकास के द्वारा उद्घाटित कर) उस (कवि) को सुन्दरता का देश (शोभा का संसार) प्रदान किया (प्रदर्शित किया)। (उन खिले हुए फूलों पर मँडराते और गुनगुनाते) भ्रमरों ने वसन्त (रूपी वीणा) के तार बजा कर (कवि के) कानों में रहस्यमय सन्देश

सुनाये। (अर्थात् कवि ने फूलों से सौंदर्य का रूप पाया और भ्रमरों के गुञ्जार से अज्ञात लोक से मिलने वाले अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण समाचार ग्रहण किये।)

(जीवन की रात में अचेत) सोये हुए (कवि के मानस के भाव रूपी) पक्षी को अनजाने सपने में आज प्रभात ने (अकस्मात्) चौंका दिया (जिससे वह एकाएक चहक उठा। अर्थात् जैसे सोया पक्षी सबेरे पहर चौंक पड़ता और अकस्मात् कुछ बोल उठता है, वैसे ही कवि अब तक निश्चेष्ट किन्तु भीतर ही भीतर कल्पना के द्वारा भावों का मनोहर जाल बुन रहा था। आज उसको प्रातः के सौंदर्य ने अचानक ही कुछ ऐसा धक्का दिया कि वह चौंक पड़ा और कुछ गीत गाने लगा।)

(हवा के मन्द-मन्द झोंकों के कारण) हिल कर (पेड़ों के) पत्ते (अपने हाथों से) रहस्यपूर्ण इङ्गितों के द्वारा गुपचुप (कुछ) बात कह रहे हैं। (अर्थात् पेड़ों के पत्तों के हिलने में हाथों के हिलने का रूप देख कर कवि उनके द्वारा भेद भरे सङ्केत ग्रहण करता है।)

(इस प्रकार भावों का जागरण होने पर वृक्षों के हिलते पत्तों में) आज कवि के सदा से उतावले प्राणों ने अपना गान (अपनी कविता का रूप) हस्तगत किया।

(सम्मुख दिखलायी पड़ने वाले) खेतों के उस पार, (यहाँ से बहुत) दूर जहाँ तक (इनके) नील वर्ण के (गहरे हरे रङ्ग के पौधों के ऊपर मन्द-मन्द झोंकों के द्वारा उत्पन्न) झन-झन शब्द सुनायी पड़ता है वहाँ पर (कहीं) कोमल छाँह

के वन में स्वर्ग की परियों का लोक छिपा है। वहीं, उन पेड़ों में चन्द्रमा का चाँदी का (शुभ्र, रम्य और प्रभामय) अपरिचित निवास स्थान है। उसी (अज्ञात परियों और चन्द्रमा के लोक से आने वाले) जुगुनुओं के साथ ही उड़ते हुए (कवि के) पास (काव्य) स्वप्न (कल्पना के द्वारा सृष्ट मनोहर भाव एवं चित्रमय विचार) आते हैं। (अर्थात् कवि सम्मुखस्थ खेतों की हरीतिमा को देखते-देखते विचारों के लोक में मन को अबाधगति से छोड़ देता है। उसे ऐसा जान पड़ता है कि उन्हीं दूरवर्ती स्थलों से परियाँ आती हैं और वहीं से चन्द्रमा निकलता है। प्रकृति का यही सुन्दर और रहस्यमय रूप उसके मन में कल्पना के स्वप्नों का निर्माण करता है। इसी से वह कहता है कि) इन्हीं (स्थलों) में कहीं पर जाने बिना ही (अज्ञात रूप से) कवि को अपना गाना (अपनी कविता का उद्दीपन) मिला है।

दोष—स्वर्ग में परियाँ नहीं होती, किन्तु अप्सराएँ होती हैं। फारसी की जनश्रुतियों के अनुसार परियाँ तो काफ पर्वत पर होती हैं। काफ पर्वत की 'परी' को बहिश्त की 'हूर' मानना सदोष है। स्वर्ग और बहिश्त को पर्यायवाचक मानना उचित नहीं। दोनों के रूप और आदर्श भिन्न-भिन्न हैं। फिर स्वर्ग में परी कैसे पहुँची? कवि की कल्पना ऐसी उड़ान क्यों भरती है? 'स्वप्न में चौंका गई प्रभात' में प्रभात का प्रयोग स्त्रीलिंग में होने से च्युतसंस्कृत दोष है।

अलंकार—'आज सोये खग को अज्ञात, स्वप्न में चौंका गई प्रभात' में रूपकातिशयोक्ति है। 'आज शिशु के कवि को अनजान' में वस्तुतः शिशु अप्रस्तुत है और कवि प्रस्तुत है। अतः रूपक का शुद्ध रूप होता 'कवि के शिशु को,' परन्तु यहाँ चमत्कार के लिए इसे उलट कर प्रतीप

की भाँति प्रयुक्त कर के कवि ने 'प्रतीप-रूपक' जैसा नया आलङ्कारिक प्रयोग बनाया है।

[३४] लाई हूँ फूलों का हास

शब्दार्थ—**तरल** = द्रवित। **तुहिन** = हिम। **परिप्रोत** = चारों ओर से घिर कर।

सङ्केत—इस गीत में प्रकृति के शिशिर, वसन्त, वर्षा एवं शरत्-काल के सौन्दर्य का अनूठे ढङ्ग से प्रदर्शन है। जैसे कोई नारी प्रकृति की उन सुन्दर वस्तुओं के विक्रयार्थ फेरी लगाती हुई लोगों को उनकी ओर आकृष्ट करती है।

व्याख्या—मैं (वन-उपवन में खिले) फूलों की (स्वच्छ, उज्ज्वल) खिल-खिलाहट वा हँसी (जिसको साहित्य में शुभ्र वर्ण का माना जाता है) लायी हूँ। (क्या तुम उसको) मोल लोगी ? द्रवित हिम (ओस, पाला) के वन की (यह) हर्षोत्फुल्लता (प्रसन्नता) मोल लोगी ? मोल लोगी ? (हिम जमा हुआ कठोर होता है। वह अपना कड़ापन छोड़ कर पिघल गया है—उसके हृदय की कठोरता द्रवित हो गयी है। इसी से शिशिर में सर्वत्र वही शुभ्र हिम का द्रव ओस खिल रहा है—वन में सर्वत्र श्वेत फूल खिल रहे हैं। क्या इनको तुम मोल लोगी ? क्या इनको अपने पास सुरक्षित रखना चाहोगी ?)

(अब प्रकृति का दूसरा वासन्ती दृश्य दिखलाते हुए कवि कहता है कि) वसन्त के (लाल फूलों और कोंपलों की) ज्वाला (वन-उपवन में सर्वत्र) व्याप्त हो गयी है। (उस लौ से) वन (के समस्त वृक्षों और पौधों) की डाल-डाल (रह-रह कर)

जल उठती है। (कभी एक शाखा में और कभी दूसरी में लाल कोंपलें और फूल निकल कर आनन्द की लौ के सदृश प्रज्ज्वलित हो जाते हैं। (इन्हीं लाल रंग के किशलयों और फूलों को देख कर मस्त हुए) कोकिल के मृदु (पञ्चम) स्वर (गूँज उठे।) (क्या तुम इन सब को) मोल लोगी ? खरीदोगी ? (क्या इन्हें अपना बनाना चाहोगी ?)

(वसन्त के बाद कवि ने ग्रीष्म के सौष्ठव की ओर दृष्टि-पात नहीं किया। वह और आगे बढ़ कर वर्षा की सुषमा पर मोहित होता है। तब उसकी वाणी कहती है कि) वर्षा का चतुर्दिक प्रसार उमड़ उठा है। (चारों ओर से वर्षा के बादल उठ रहे हैं। जिधर देखो उधर) जल के नये-नये सोते निकल रहे हैं। जीवन (जल) की (नदियों में प्रवहमान) ये चञ्चल लहरें (क्या) मोल लोगी ? (क्या इन्हें) मोल लोगी (और अपने हाथ में रखने की इच्छा करोगी ?)

(वर्षा की सुन्दरता को अपने अधीन न कर सकीं; न सही। अच्छा अब देखो—) अबोध (भोली भाली) शरत् (ऋतु) की चाँदी (रूपी उज्ज्वल दन्त-पंक्तियों की शुभ्र) मुस-कान विरल (दूर-दूर उड़ते हुए) बादलों (के सदृश मुख) का परदा हटा कर (अखिल विश्व के ऊपर) फैल रही है। (शरद् की चाँदनी विरल बादलों के परदे हटा हटा कर पृथ्वी पर अपनी शुभ्र मुसकान बिखेरती है।) (क्या तुम) इस सुन्दरता की अमूल्य चाँदनी को (अथवा उस चाँदनी रूपिणी सुन्दरता को जिसका मूल्य नहीं आँका जा सकता) मोल लोगी ? (क्या

उसका दाम चुका कर उसे) अपने लिए लोगी ?

(प्रकृति के इस शिशिर, वसन्त, वर्षा और शरत् के अपार सौंदर्य की ओर मन की वृत्ति रूपिणी ग्राहिका का रुझान न हुआ। वह बोली नहीं, मैं तो इन सब को ग्रहण न करूँगी। कारण, देखो) आज का प्रभात (अन्य दिनों के प्रभात की अपेक्षा) अधिक लाल है। (आज मुझे अपने जीवन में एकदम नवीन प्रभात दिखलायी पड़ रहा है। उस समय मेरे मन के भीतर स्थित भाव रूपी) पखेरू जागरित हो-हो कर (उद्बुद्ध हो कर) चहक रहे हैं। (कवि की वाणी कहती है कि भावोन्मेष होने से गीत की गुनगुनाहट होने लगी है। मैं आज नये गीत गुनगुनाने लगी हूँ। मुझे यही नवजागरण का सबेरा और सब से अच्छा लगता है। अतएव तुम्हारी) इच्छा हो तो जी खोल कर (भली-भाँति) सुन लो। (मैं) आज (इस आत्म-चेतना के अवसर पर भाव-विभोर हूँ और तुम्हारा लाया हुआ कोई सौदा कितना ही सुन्दर क्यों न हो, किन्तु) कुछ भी मोल न लूँगी।

दोष—'जल-जल उठतीं बन की डाल' में 'डाल' के स्थान पर 'डालें' होने से वाक्य निर्दोष कहा जा सकेगा। यहाँ च्युत संस्कृत दोष है।

अलङ्कार—रूपक, पुनरुक्तिप्रकाश।

[३५] जीवन का उल्लास,—

शब्दार्थ—**जीवन**=प्राण, पानी। **सिहर**=कंपित हो कर। **लहर**=लहराता हुआ। **हिलोल**=हिल्लोल, लहर। **किलोल**=कल्लोल, क्रीडा।

संकेत—इस गीत में जीवन के आनन्द का विकास, प्रवाह और विस्तार वर्णित है।

व्याख्या—(मेरे) जीवन (जल रूपी प्राणों) का (उमङ्ग से पूर्ण) हर्ष (कैसा है ?) यह (तरङ्गों के सदृश) काँप-काँप कर, लहरा-लहरा कर (और) प्रफुल्ल हो-हो कर क्रीडा करता है। (पानी की लहरों में कम्पन, उमड़ना और फूल-फूल कर—ऊपर उठ-उठ कर बहना देखा जाता है। मेरे जीवन के आनन्द-मय क्षणों में प्राणों में सिहरन, लहर और उत्फुल्लता होती है।)

(इस प्रकार आगे) फैल-फैल कर (यह श्वेत) फेनवाली चञ्चल लहर पर लहर (एक के बाद दूसरी लहर) उठती है। (मन में एक तरङ्ग उठती है, उस पर झट दूसरी उमङ्ग आ जाती है और इस प्रकार मानसिक तरङ्गों का ताँता लगा रहता है।)

(इस प्राण रूपी जल में) मिले हुए सैकड़ों युगों के (अत्यन्त पुरातन काल के) सैकड़ों बुलबुले (भाव) क्षण-क्षण में सैकड़ों नये बनते है। (तात्पर्य यह कि जल के अस्तित्व-काल से ही उसमें बुलबुले एक प्रकार से अन्तर्हित रहते हैं। वही जल-प्रवाह के साथ साथ प्रत्येक क्षण मानो नये रूप में प्रकट होते हैं। मेरे मन में विलीन भाव भी नये-नये रूपों में दिखलायी पड़ते हैं। इस प्रकार मेरा) जीवन रूपी समुद्र (मस्ती से) झूम-झूम कर कल-कल (और) छल-छल (की ध्वनि के साथ) क्रीडा करता है।

(इस जीवन-सागर में) दिशाएँ और क्षण (एक) ओर से (दूसरे) छोर तक डूबे हुए हैं। (जीवन में आह्लाद के कारण स्थान और काल का बोध नहीं रह गया। वे पूर्णतया उस आनन्द में निमग्न हो गये हैं। उस जीवन-जलनिधि की) महत्ता अपरि-

मित है, (उसका) सौन्दर्य अनन्त है। (जलनिधि के महत्त्व का पार नहीं, उसके सौन्दर्य का अन्त नहीं। ऐसे ही जीवन के महत्त्व का भी पार नहीं और न उसके सौन्दर्य का अन्त ही है।)

विश्व (के) प्राणों का आनन्द सिहर-सिहर कर, लहरा-लहरा कर और प्रफुल्लित हो-हो कर मनोहर रूप में झूम रहा है।

दोष—पाँचवें चरण में 'रे' का प्रयोग निरर्थक है। इसके द्वारा व्यर्थ-पदत्व दोष है। (दोष का यह नया नामकरण है।)

अलंकार—'जीवन' में श्लेष है। इसी श्लेष से पुष्ट रूपक भी इस गीत में है।

[३६] प्राण ! तुम लघु-लघु गात !

शब्दार्थ—**निःसङ्ग**=निर्लिप्त। **कंचु**=मनमाने ढग से बनाया गया 'कंचुक' का अल्प आकार; अँगिया, चोली। **चूर्ण-कच**=चूर्ण कुन्तल, अलक। (कच=शिर के बाल, कुन्तल)। **हृत्**=हृदय। **निभृत**=एकान्त, सबसे अलग।

सङ्केत—इस गीत में कवि ने अपनी कल्पना के संसार में जिस सुन्दरी की सृष्टि की है उसके सौन्दर्य और प्रभाव की झलक दिखलायी है।

व्याख्या—(हे मेरी कल्पना के लोक की मानसिक) प्राण (वल्लभे,) तुम सूक्ष्म देह (हो, तुम) नील (वर्ण के) आकाश के लता-मण्डप में समायी (निमग्न, मिल कर उससे एकाकार हो।) सदैव निःशब्द, निर्लिप्त (अनासक्त और) नयी (हो। हे) समस्त सौन्दर्य (की समष्टि) की भी सुन्दरता (बढ़ाने वाली अर्थात् सबसे बढ़ कर सुन्दरी, तुम प्रत्यक्ष) छवि (से) रहित, अप्सरा की नाईं अज्ञात हो। (अर्थात् जैसे अप्सरा का वास्तविक संसार में अस्तित्व नहीं, फिर भी अलौकिक सुन्दरता से पूर्ण उसका

अस्तित्व माना जाता है वैसे ही तुम भी प्रत्यक्ष न होते हुए भी कल्पना की सृष्टि में सत्य हो।)

(ऐसी अज्ञात अप्सरा रूपिणी तुम) नित्य ही साँझ सवेरे (अपने) पंखों में (होती हो—उड़ कर मेरी कल्पना की सृष्टि में आती हो। उस समय, सूर्य के अस्त और उदय के समय, मैं अपनी मानसिक दृष्टि से प्रकृति में तुम्हारी सुन्दरता का प्रत्यक्ष अवलोकन करता हूँ। वृक्षों में बसेरा लेने को गये अथवा अपने घोंसलों से जाग कर चहचहाते पक्षियों का कलरव ही तुम्हारे) मरमर से पूर्ण (मधुर ध्वनि करने के लिए खुले) अधर (हैं। हर्ष से उत्फुल्ल तरु, पौधे तुम्हारे) रोमाञ्चित (शरीर के) अवयव (हैं।) तुम्हारे गतिशील चरणों को (जल की) चञ्चल लहरें (उमङ्ग से उठ-उठ कर) चूमती (चूमने के लिए अपने मन के आवेग के कारण उठती हैं। तुम्हारी) भौंहों की भङ्गिमा को पा कर (भौंहों के तिरछे होने से सङ्केत ग्रहण कर फूलों की) कलियाँ खिलती हैं, (घास के) तिनके (और) पेड़ों के पत्ते (मस्ती में झोंके लेते हुए मन्द मन्द पवन से हिलते-डोलते और कुछ अधिक वेग से पवन के चलने पर मानो आनन्द से) नाच उठते हैं। (अपने पंखों पर उड़ कर आने के कारण तुम्हारे) हरे (और) चञ्चल (हवा में उड़ते—फरफराते) आँचल का किनारा (हरित तरु-राजि में दिखलायी पड़ता है। लहराते हुए जल में तुम्हारा) सजल (पानीदार, चमकीला) सौन्दर्य, (एवं नीलाभ गगन रूपी) नीली अँगिया (-कसे उर्ध्व भाग से युक्त तुम्हारा) गोरा शरीर (है, जिसमें वृक्षों और पौधों के लटकते हुए

पत्ते ही तुम्हारी) अलकें (हैं और तुम्हारी) साँस (के स्पर्श) से (ही) सुगन्धित (पवन के) झोंके (उठते हैं।)

(तुम) संसार के हृदय रूपी कमल में एकान्तवास (करती हो। (संसार के समस्त रसिकों, भावुकों के हृदय में तुम्हारा वास है।) दिन-रात (जगत् के प्राणियों की) प्रत्येक साँस में (तुम्हारा) नृत्य (होता है—समग्र मानव जो दिन-रात साँस लेते हैं उसमें ही तुम्हारी थिरकन की गति अथवा नृत्य की गत है—तभी वह साँस उठती-गिरती रहती है।) सम्पूर्ण संसार के (जीवों के) प्राणों में (तुम्हारी) हँसी (प्रसन्नता) की क्रीडा (होती है। तुम्हारा ही विश्व के प्राणिमात्र के हर्ष के रूप में प्रकट होता है।)

(ऐसी हो, मेरी कल्पना की सुन्दरी तुम, जो) दिखलायी नहीं पड़तीं, स्पर्श नहीं की जा सकतीं और जो (अभी तक) जन्मीं नहीं। (केवल मेरे मानसिक जगत् में विहार करती हो।)

दोष--इस गीत में अधिकांश स्थलों में क्रिया पद का अभाव होने से अर्थ बैठाने के लिए उसका अध्याहार करना पड़ता है। इससे न्यून-पदत्व दोष है। इसके दूसरे अंश (अर्थात् अधर मर्मर युत···परों में सायं-प्रात !) में दूरान्वय दोष भी प्रतीत होता है।

अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति अनुप्रास।

[३७] जग के उर्वर-आँगन में

शब्दार्थ—**जीवन**=जल, प्राण। **उर्वर**=उपजाऊ। **ज्योतिर्मय**=प्रकाश, ज्ञान से पूर्ण। **अव्यय**=जिसमें विकार वा परिवर्तन न हो, अक्षय, नित्य। **मृत**=निर्जीव, निश्चेष्ट। **मृण्मरण**=मृत् (मिट्टी)+मरण, मिट्टी का मरण, मर कर मिट्टी हो जाना। **संसृति**=संसार का प्रवाह, सांसारिक जीवन।

सङ्केत—इस गीत में कवि ने संसार में नये जीवन के प्रारम्भ होने का अभिलाष प्रकट किया है। ग्रीष्म से झुलसे संसार को वर्षा के जल से नया लहलहाता जीवन मिलता है। ऐसे ही भौतिकता से ओत-प्रोत मानव जीवन को दिव्य जीवन मिले—यही कवि की आकाङ्क्षा है।

व्याख्या—हे (दिव्य) ज्योति से पूर्ण जीवन (रूपी जलद तुम इस) संसार के उपजाऊ क्षेत्र में बरसो (उस हृदय रूपी आँगन में बरस पड़ो जिसमें पहले से वे तत्त्व विद्यमान हैं जिन पर तुम्हारा प्रकाश पड़ने से उसकी छिपी हुई उच्च शक्तियाँ वैसे ही बाहर प्रकट हो जायँगी जैसे उर्वरा भूमि पर बादल की जल-वर्षा होने और सूर्य का प्रकाश पड़ने पर उसके अन्तर के बीज अङ्कुरित हो जाते हैं।) हे सदैव से ही अक्षय (चिरकालीन नित्य और सदा अपरिवर्तनीय होते हुए भी) चिर नवीन (रहने वाली दैवी सत्ता, तुम भूमण्डल पर उगे हुए) छोटे-छोटे तिनकों और वृक्षों के ऊपर बरसो (और प्रत्येक उद्भिज—वनस्पति—रूपी छोटे-बड़े समस्त मानवों वा जीवमात्र को लहलहा दो—हरा-भरा कर दो जिससे उसका विकास हो। तुम अपनी ज्योति सामान्य से सामान्य मानव के हृदय में विकीर्ण करो जिससे उसके अन्तस्तल में निहित दिव्यता तुम्हारे प्रभाव से फूट पड़े, विवर्द्धित हो।)

(तुम) फूलों में पराग वा मधु, (मानव के) प्राणों में सदैव स्थायी रहने वाले प्रेम की सम्पदा, (उसके) ओंठों में मुसकान, (नेत्रों की) पलकों में (जीवन की आशा-आकांक्षा की मोहक कल्पनाओं के रंगीन) स्वप्न, हृदय में सुख तथा (शरीर के) अवयवों में यौवन (पूर्ण विकास) बन कर बरसो।

(अर्थात् तुम्हारे द्वारा फूलों का चरम विकास मधु के रूप में हो, मनुष्य के प्राणों में चिरस्थायी प्रेम की विभूति का प्रकाश हो, उसके हृदय में हर्ष हो, जिससे अधरों पर मुसकान खिले, उसकी आँखों की पलकों के ऊपर मानसिक कल्पनाओं का सुन्दर स्वप्न विहँस कर उन्हें उल्लास-पूर्ण दिखलाये, उसके हृदय में सुख हो और शरीर के प्रत्येक अवयव को यौवन की पूर्णता प्राप्त हो।)

(तुम) संसार के निर्जीव धूल के कणों को स्पर्श कर के (उन्हें) तृण (और) वृक्ष (के रूप) में चेतन बना दो। (धूल के जो कण निर्जीव जैसे हैं उनको अपने स्पर्श से सजीव बना दो। जिन कणों में कुछ नहीं प्रतीत होता उनसे ही तुम घास और पेड़ की चेतनायुक्त सृष्टि कर दो। जिन मानवों में दिव्य शक्ति का अभाव जान पड़ता है उन्हें तुम अपने संस्पर्श से दिव्य जीवन प्रदान करो। तुम) जगत् (के मानवों) के मृद् (मृत्तिका के बने पाञ्चभौतिक शरीर) का मरण (अर्थात् विनाश नव-जीवन प्रदान के द्वारा उसमें अपने चिरन्तन) प्राणों का आलिङ्गन (योग) दे कर बाँध दो। (तुम मरण को प्राण दे कर बन्धन में डाल दो—तुम्हारे द्वारा उपलब्ध नव-जीवन से संसार के मानवों का मरण रुक जाय—सब अमर हो जायँ।)

(हे) जग के जीवन (प्राण, जल) के बादल, (तुम संसार के ऊपर) सुख का आकार धारण कर, सौन्दर्य के रूप में बरसो। (तुम संसार को सुख और सुन्दरता से परिपूर्ण कर दो।) हे सांसारिक जीवन के सावन, (नव-चेतना देने वाले दिव्य

ज्योतिर्मय जीवन के सावन के सदृश गहरी वर्षा के बादल, तुम) प्रत्येक दिशा में और प्रत्येक क्षण (इस जगत् के आँगन पर अजस्र) वर्षण करो। (संसार में सर्वत्र और सदैव तुम्हारा प्रभाव हो, जिससे समस्त मानव प्रत्येक क्षण तुम्हारे द्वारा नया दिव्य-जीवन प्राप्त करते रहें।)

अलङ्कार—'जीवन' के श्लिष्ट प्रयोग के साथ 'जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन' में रूपकातिशयोक्ति है। 'स्मिति-स्वप्न अधर-पलकों में' तथा 'उर-अंगों में सुख-यौवन' में क्रम अलंकार है। दिशि-दिशि, पल-पल में पुनरुक्तिप्रकाश है। अनुप्रास तो छन्द के प्रायः प्रत्येक चरण में है।

[३८] नीरव-तार हृदय में

सूचना—संवत् २००३ के चतुर्थ संस्करण में इस गीत का तीसरा चरण है—'अनिल-पुलक से अरुणोदय में' किन्तु संवत् २०१० के सातवें संस्करण में वही इस रूप में परिवर्तित है—'रहस स्पर्श से अरुणोदय में।' नीचे इन दोनों की व्याख्या क्रमानुसार की गयी है।

शब्दार्थ—[**अनिल-पुलक से** = पवन के स्पर्श से होने वाले शरीर के रोमाञ्च के द्वारा।] **रहस-स्पर्श से** = आनन्द, क्रीडा, एकान्त में किये गये स्पर्श से। **आशय** = पात्र। **धर** = रख।

सङ्केत—इस गीत में कवि अपनी आराध्या से अपने मानस का परिष्कार करने और अपने आदर्शानुसार जीवन के कर्मों में लगे रहने का निवेदन करता है।

व्याख्या—(आज नव-जीवन के प्रारम्भ होने वाले) अरुणोदय (उषाकाल) में (शीतल, मन्द और सुगन्ध) पवन (के स्पर्श से उत्पन्न शारीरिक) रोमाञ्च के द्वारा (मेरे) हृदय में

(भारती की वीणा के) निष्पन्द तार (अपनी) मनोहर (सुन्दर, मधुर) लय में गूँज रहे हैं। [अथवा—प्रभात वेला में आनन्द के स्पर्श से (मेरी आन्तरिक वृत्ति रूपिणी वीणा के) प्रसुप्त तार (के छिपे हुए) मनोहर स्वरों में हृदय के भीतर (ही भीतर) गूँज रहे हैं।] (अर्थात् वे तार वैसे तो शान्त हैं बज उठने के पहले, किन्तु अब उनमें भरी हुई जीवन-रागिनी मुखरित होने वाली है। इसी से उनकी गूँज मेरे हृदय में उठ रही है, जो मेरे गीतों के मुखरित होने के पूर्व की ध्वनि है।)

(उस दिव्य वीणा-वादिनी के) कमलवत् चरणों में (मेरा) मन समर्पित कर दे। शरीर (उनकी परागवत्) धूल से रँग दे (सुशोभित कर दे)। मेरा जीवन उन चरणों के प्रक्षालित जल के पात्र में (उस चरण-कमल के) मधु के रस से ओत-प्रोत कर दे।

(मुझे) नित्य (रहने वाले, चिरस्थायी) कर्म के मार्ग में तत्पर रख। (मेरा) हृदय निर्मल (शुद्ध, निर्दोष, स्वच्छ) कर। मेरे (मन रूपी सुमन के) मधु-कोश में दूसरों की सेवा रूपी कोमल पराग भर दे। (अर्थात् मेरे मन में पर-सेवा का भाव भर दे।)

अलङ्कार—अनुप्रास।

विहग के प्रति

[३९] विजन-वन के ओ विहग-कुमार

शब्दार्थ—विषण्ण = उदास, खिन्न, दुःखी। सायास = सप्रयास, प्रयत्न के साथ। शिल्पि-सुजात = शिल्पिश्रेष्ठ, कुशल शिल्पी।

स्वप्निल गान = 'ड्रीमी सौंग्स'; कल्पना से भरे गीत। **जलजात** = कमल। **दिशि-श्वास** = दिशा का नैकट्य, दिशाओं का छोर। **अमन्द** = सक्रिय, सचेष्ट, क्रियाशील। **विश्व का अक्षय-वट** = संसार रूपी वट वृक्ष जो कभी नष्ट नहीं होता, चिरजीवी संसार। **आक्रीड़** = आनन्द का उद्यान, विहार करने के निमित्त वृक्षों का कुञ्ज।

सङ्केत—इस गीत में अरुणोदय के पूर्व किसी पक्षी के सर्वप्रथम बोलने से वृक्ष के घोंसलों में सोये हुए अन्य पक्षियों के जग कर चहचहाने का प्रतीकात्मक वर्णन है। यह आत्म-चेतन का जागरण-सन्देश भी है। इसमें हिन्दी कविता के क्षेत्र में इस गीत के गायक कवि के नये युग के प्रथम कवि के रूप में अवतरित हो कर अपने प्रभाव से समसामयिक अन्य कवियों की नवीन मधुर रचनाओं से काव्य-संसार को मुखरित करने का भी सङ्केत ग्रहण किया जा सकता है।

व्याख्या—ओ निर्जन (कोलाहल-शून्य, शान्त) जङ्गल के पक्षि-शावक, आज (संसार के) प्रत्येक घर में तेरा कलरव (गूँज रहा है।) इस टूटे-फूटे और पुरातन संसार का उदास उद्यान अपरिमित मीठे (कलरव से) शब्दायमान है। (अर्थात् अब तक यह संसार रूपी उद्यान सुनसान था। निर्जन होने से इसमें किसी का बोल नहीं सुनायी पड़ता था। इसमें चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। इससे यह उदास सा लगता था। अब इसमें विहग-शिशु के मीठे बोल सुनायी पड़ने लगे। इससे अन्य पक्षी भी चहचहाने लगे। इस प्रकार उद्यान गूँज उठा।)

[इसका संकेत यह भी है कि हिन्दी के काव्य-कानन में इस अद्वितीय युवक कवि की नये ढंग की कविता गूँज रही है। अब तक उसमें पुराने ढर्रे के कवियों की पिष्टपेषित रचनाएं ही

होती थीं। उनमें कोई रस न था। इससे काव्य-जगत् में औदास्य विराजता था। इस नयी चेतना के कवि ने उसको दूर किया। सर्वत्र इसी के गीतों की चर्चा होने लगी। अथवा अन्य कविगण भी इसी के सदृश भाव और व्यञ्जना-प्रणाली अपना कर इसकी सी मधुर कविता करने लगे हैं। इससे काव्य-कानन में सुरीले गीत गूँज रहे हैं।]

हे कुशल शिल्पी (कारीगर पक्षि-श्रेष्ठ,) तूने सहज (सरलता वा स्वाभाविक रूप में ही) छोटे (-छोटे) तिनके, खर (घास), पत्ते चुन-चुन (छाँट-छाँट) कर (और उनसे) प्रयत्नपूर्वक अहर्निश (निरन्तर) घोंसले बना-बना कर (उद्यान रूपी) संसार (के समस्त वृक्षों) की प्रत्येक शाखा में (अपने जैसे पक्षियों के) बसेरे व्याप्त कर दिये।

[अर्थात् तुमने लगातार श्रम करके तुच्छ खर-पतवार रूपी सामान्य उपकरणों से काव्य-कानन के विस्तृत क्षेत्र में कृतियों का निर्माण करके अन्य कवियों को उनमें आश्रय प्रदान किया।]

(तूने समस्त) दिन और रात (अपने) स्वतन्त्र (बन्धन-विहीन) पंखों में उड़ते हुए (अखिल) विश्व के (सुप्त, अचेतन और विषण्ण) प्राणों (हृदयों) को स्वाभाविक रूप से हिला (आन्दोलित अथवा सचेत) कर नीरव) गगन में अज्ञात (अब तक अपरिचित) प्रिय (एवं सुखकर) जीवन की मत्तकारिणी (रागिनी की) तान भर दी। (जो आकाश सुनसान सन्नाटे भर रहा था उसको तूने ऐसी मधुर ध्वनि से परिपूर्ण कर दिया जिसने श्रोताओं को नये जीवन का सन्देश सुनाया और अप

मनोहर भावों में विभोर कर दिया। ऐसा तूने सब के हृदयों को स्वाभाविक रूप से स्पन्दित करके किया—अस्वाभाविक ढंग से झकझोर कर नहीं। तेरे गान सुन कर उनके निश्चेष्ट हृदयों के स्वाभाविक किन्तु अब तक प्रसुप्त भाव जगे। यह काम तूने ऐसे सतत प्रयास से किया जिसमें किसी प्रकार का बन्धन न था, जो परम्परा से मुक्त था।)

[छन्द और विषय की प्रचलित परिपाटी से नितान्त अलग तूने ऐसी कविता की जिससे अन्य कवियों के भाव, विषय एवं शैली से शून्य हृदयों में प्रतिक्रिया हुई और तुम्हारे गीतों में अपने जीवन की प्यारी रागिनी सुन कर वे मतवाले हो झूमने लगे।]

सोते हुए (अचेतनावस्था में आत्मविस्मृत) संसार (के समग्र प्राणियों के हृदयों के आकाश) में (तूने अपने) कल्पना-पूर्ण (कल्पना के लोक के) गान गा कर (उनके द्वारा जागरण-काल प्रस्तुत करनेवाली उषा के) सुवर्ण (जैसे पीत-सौन्दर्य) से (जीवन का) पहला सबेरा परिपूर्ण कर दिया। (इस प्रकार अरुणोदय होने पर) संसार (के जीवों के) प्राणों का (अर्थात् प्राण-रूपी) कमल अपने जाने बिना ही (विकसित होने का आत्मबोध हुए बिना ही अकस्मात्) खिल कर (अपने ही भीतर निशाकाल में बन्द अथवा बाहर से आ कर अपने चतुर्दिक् मँडराने वाले भ्रमरों की) मधुर (गुञ्जार से) गूँज उठा। (जब सब प्राणी सो रहे थे तब तूने उनको सपने का गीत सुनाया—स्वप्नावस्था में उनको तेरा अर्द्धस्फुट गान सुन पड़ा। इससे उनके जीवन में नया परिवर्तन-काल आया और उसमें सुन्दरता,

ज्योति तथा दिव्य प्रभा व्याप्त हो गयी। तत्काल ही लोक-मानस का कमल उस दिव्य सूर्य के प्रकाश से खिल उठा—उसका रूप प्रकट हुआ। उसमें अन्तर्हित अथवा बाह्य प्रभाव के भावों का आप से आप, किसी प्रकार के प्रयास के बिना ही, उदय हुआ और उनकी मधुर ध्वनि सुनायी पड़ने लगी।)

[तूने अपने कल्पना-समन्वित गीतों से काव्याकाश में नया आलोक फैलाया। उनके प्रभाव से अन्य कवियों के हृदय प्रसन्न हुए। उनके हृदयों से भी वैसी ही मधुर-रचनाओं की झङ्कार उठने लगी—वे भी वैसी ही रसमयी कविता करने लगे।]

जब सन्ध्या की हवा (दिन भर चलते-चलते श्रम से) थक कर (शान्त, निश्चल जैसी हो जाती और) सोती (रहती है तथा) संसार रूपी (वृक्ष पर बसेरा लेने वाले जीवरूपी पक्षियों का समुदाय अपने अपने स्थान पर अचल वा) स्थिर (और) अचेत (चुपचाप, शान्तिपूर्वक रहता है तब, हे पक्षि-शावक) तू (उस वृक्ष के) पत्तों को (अपने मधुर गान से सजग कर, उनमें चेतना भर कर एवं उन्हें हर्षोत्फुल्ल कर) रोमाञ्चित (प्रसन्न) करके (अर्थात् उस जगत् रूपी पेड़ में बसेरा लेने वाले मानव रूपी पक्षियों के प्राणों में हर्ष का सञ्चार कर) विश्व के जीवन का (अपने सदृश असंख्य खगों के सैकड़ों मुखों से (एक साथ होने वाला) गान सजग कर देता है। (संसार के अगणित प्राणी अपने जीवन का स्वरूप प्रत्यक्ष करने वाले गीत एक साथ गाने लगते हैं और वह उद्यान-जगत् उन जीवन-गीतों से गूँज उठता है।)

[जिस समय काव्य-संसार में अन्य कविगण निष्क्रिय थे, कहीं भी कोई कविता नहीं कर रहा था, उस समय तुमने कविता का नया रूप दिखलाया। उसकी प्रतिक्रिया हुई। सैकड़ों नये कवि वैसी ही कविता करने लगे। उनकी वाणी से काव्य जगत् मुखर हो गया।]

(तुमने अपने जनशून्य वा) सुनसान (वन) का एकान्त वास त्याग कर (एवं) संसार के (वृक्षों के) घोंसले में प्रसन्नता-पूर्वक (अपने आप) बँध कर (उस जगत् के आनन्द से) खिले हुए, प्रसन्न और क्रियाशील घरों में दिग्दिगन्त (ओर-छोर अपने तथा वहाँ के बसने वाले सब पखेरुओं के) कलगान से पूर्ण कर दिये। (तुम अकेले जनशून्य वन के वासी थे। तुम उसको छोड़ कर अपने मन से मानव-समाज के बीच बने घोंसले में रहने आ गये। वहाँ के घरों को अपने आनन्द-पूर्ण गानों से हरा-भरा करते हुए लहलहाते हुए तुमने उनको पूर्ण रूप से गुञ्जरित कर दिया।)

[स्वेच्छा से कवि ने अपनी भावना के एकान्तवास को त्याग कवि-जगत् में प्रवेश किया। उसे अपनी रचनाओं के आह्लाद से सम्पन्न किया। उसकी देखादेखी वहाँ के अन्य सब कवियों ने अपनी-अपनी कविताओं के मधुर गान से उस काव्य-संसार को परिपूर्ण कर दिया।]

जब पेड़ के घोंसले (अपने निवासी पक्षियों के उड़ जाने पर) सूने हो जाते हैं तब (हे पंक्षी,) तू तुरन्त ही नये नये (अनेक) रूप बना कर (इस) जगत् के अक्षय-वट (कभी भी नष्ट न

होने वाले बरगद) की शाखा (में बने घोंसलों में आ कर बैठ जाता और उस) को उमङ्ग में भर कर (प्रसन्नतापूर्वक) सदैव गुँजाता रहता है। (इस चिरन्तन जगत् रूपी चिरजीवी वृक्ष से कभी-कभी सब पखेरू उड़ जाते हैं। वह सूना पड़ जाता है। तब तू ही अनेक रूप के पक्षियों का वेश धारण करता और उस तरु के नीडों में आ-आ कर चहकने लगता है। इससे वह सुनसान शाखा नित्य ही बोलती रहती है। तू इस संसार-तरु को कभी सूना नहीं रहने देता।)

[अब कवि अपने विराट रूप का प्रदर्शन करता है। वह काव्य-संसार को कभी श्रेष्ठ कवियों से शून्य पा कर स्वयं आता है। अपने मधुर काव्य से प्रेरित कर के अनेक कवियों के तद्वत् काव्यों के द्वारा काव्य-जगत् में मानो अनेक-धा प्रकट होता और उसे मनोहर गीतों से परिव्याप्त कर देता है।]

(अब इस गीत का कवि अपनी कविताओं के प्रेरक उस पक्षि-शावक रूपी अपने चेतन से कहता है कि हे मेरे) जीवन, (अपने इस जागरण के स्वरों के प्रति) मोहित (तल्लीन मेरे शरीर के) रोओं (के सदृश तृणों) में पुलकों (रोमाञ्चों) के (रूप के) आनन्द का घोंसला बना कर तू (मेरे) प्राणों में गान फूँक रहा है। मेरा हृदय (ही) तेरा आनन्दोद्यान है। (उसमें तू विहार करता है। तात्पर्य यह कि जैसे तिनकों से घोंसला बनता है वैसे ही हर्ष से खड़े रोंगटों के तिनकों में वह चेतन रूपी पक्षी अपना आवास बनाता है— वहीं वह विरमता है। इस प्रकार शरीर को अपने स्पर्श से उल्लास के रोमाञ्च से युक्त करके वह चेतन रूपी

पक्षी कवि के मन में अपने गान प्रविष्ट करता और उसमें उनकी प्रतिध्वनि उत्पन्न करता है, जिससे उससे भी आनन्द के गीत उठने लगते हैं।)

अरे (मुझसे) दूरवर्ती वन के राजकुमार, (वन के सुन्दर श्रेष्ठ पक्षी रूपी चेतन, इस) सम्पूर्ण (जगत् के प्राणियों के) हृदय में तेरे गान (गूँज रहे हैं—दूर देश के वासी पक्षी, तूने जो कलरव किया वही इस समय काव्य संसार के सभी लोगों के मन में प्रतिध्वनित हो रहा है। हे) सुकुमार (भाव रूपी पक्षी, तेरे) इन मीठे गीतों से मेरे जीवन और प्राण सदैव जीवित (विद्यमान) रहेंगे (वा हैं अर्थात् तेरे ये गान मेरे जीवन और प्राण के चिर-सङ्गी हैं, सदैव मेरे साथ रहेंगे।)

दोष—'स्वर्ण से भर दी प्रथम-प्रभात' में 'प्रभात' और 'श्रान्त, सोती जब सन्ध्या-वात' में 'वात' का प्रयोग स्त्रीलिंग में हुआ है। इसलिए च्युतसंस्कृत दोष है। 'अखिल उर-उर में तेरे गान' में क्रिया पद का अभाव है। इससे न्यूनपदत्व दोष है।

अलङ्कार—रूपकातिशयोक्ति, रूपक, पुनरुक्ति-प्रकाश। 'वन्य स्वर' में पुनरुक्तवदाभास।

एक तारा

[४०] नीरव सन्ध्या में प्रशान्त।

शब्दार्थ—**प्रशान्त**=पूर्णरूपेण शान्त; एकदम सन्नाटा। **आनत**=नीचे झुके हुए। **वन का मर्मर**=वन के वृक्षों के पत्तों की खड़खड़ाहट। **धूसर**=मटमैला। **जिह्म**=टेढ़ा-मेढ़ा। **सान्ध्य स्वर्णाभ**=सन्ध्या के समय आकाश की सुनहली कान्ति। **चल-**

जल = बहता पानी। **रक्तोत्पल** = लाल कमल (यहाँ, सूर्य अभिप्रेत है।) **प्रखर शिशिर से डर** = तेज शिशिर ऋतु के पाले के पड़ने से भयभीत हो कर। **स्वर्ण-विहग** = सोने का पीले रंग का पक्षी। (यहाँ डूबते समय पीले पड़े हुए सूर्य से तात्पर्य है।) **अमन्द** = प्रकाशमान। **अकलुष** = निष्कलङ्क, उज्ज्वल। **अनिन्द्य** = जिसकी निन्दा न की जा सके, सब प्रकार से शुभ्र। **ज्यों-ज्योतित विवेक** = प्रकाशमान ज्ञान के सदृश। (**विवेक** = सत् और असत् के भेद को समझने का ज्ञान। विवेक का वर्ण साहित्य में श्वेत माना गया है। यहाँ तारा श्वेत वर्ण का है। चमक रहा है। इससे ज्योतित विवेक कहा गया है।) **अमर टेक** = ऐसा निश्चय जो कभी नष्ट न हो, चिरस्थायी निश्चय। **स्वर्णाकांक्षा** = सुनहली उत्कट इच्छा; ऐसा तीव्र अभिलाष जिसमें कल्पना-जगत् के सभी सौन्दर्य और वैभव सम्मिलित हों। **मुक्तालोकित** = मोती से प्रकाशित। **रजत** = चाँदी। **अपलक** = निर्निमेष, एकटक। **अहरह** = (**अहन्** = दिन, जिसमें दिन और रात का सम्मिलित समय है) दिन-दिन, दिन प्रतिदिन, निरन्तर, सदैव। **हहर** = काँपती हुई, थरथराती हुई। **अविरत** = जो कभी न रुके, निरन्तर, लगातार। **अबाध** = बाधा के बिना, निरन्तर। **मूक-भार** = ऐसा बोझ जिसके उठाने से होने वाली वेदना मन ही मन सही जाय, कह कर हलकी न की जा सके। **छन्द—बन्ध** = इच्छा का बन्धन, इच्छाओं की सीमा। **शुभ्र** = देदीप्यमान, चमकीला, उज्ज्वल।

सङ्केत—सन्ध्या होते ही आकाश में चमकते हुए नक्षत्र को देख कर कवि उस काल का शब्द-चित्र खींचता है। फिर एकाकी नक्षत्र से ध्यान हटा कर वह उस शान्त वातावरण में आत्म-चिन्तन करने लगता है। गङ्गा के पानी में पड़ कर उसका क्षीण प्रकाश काँपता है। इससे कवि मन की वाञ्छाओं की अस्थिरता के विषय में विचार-मग्न हो जाता है। अन्त में कवि आकाश में असंख्य तारों के निकल आने पर उनसे सुन्दर हुए प्रकृति-विलास का उल्लेख करता है।

व्याख्या—निस्तब्ध सन्ध्या में शान्त गाँव की समस्त सीमा डूबी हुई है। (सन्ध्या हो गयी है। सारी चहल-पहल बन्द है। गाँव के सारे छोरों में सन्नाटा छा गया है। किसी भी प्रकार की ध्वनि उस शान्ति से पूर्ण वातावरण को भङ्ग नहीं करती।) जैसे वीणा के (उतरे) तारों में (उसका) स्वर (शान्त हो कर प्रसुप्त-सा छिपा) रहता है (विविध स्वरों की झङ्कृति मौन हो जाती है) वैसे ही सम्पूर्ण वन के पत्तों की खड़-खड़ाहट वृक्षों के निद्रा से अलसाये) झुके हुए अधरों (ओठों) पर सो गयी है। (अर्थात् जैसे बोलना बन्द करने पर ओंठ झुक जाते हैं वैसे ही वन के पत्ते रूपी ओंठ झुके हुए नीरव हैं। कारण, हवा की गति बहुत ही मन्द पड़ जाने से पत्ते हिलते नहीं, स्थिर हैं और नीचे की ओर लटके हुए हैं। उनकी दशा वैसी ही है जैसे बहुत देर तक बज कर वीणा के तार उतर जाने पर ढीले पड़े कुछ झुक से जाते हैं और उनका समस्त स्वर-निनाद मानो उन्हीं में निद्रित हो जाता है।)

पक्षियों का मधुर शब्द भी अब पूर्णतया लुप्त हो गया है। (अब चिड़ियों का चहचहाना बन्द है।) (गोचर-भूमि से गाँव में) गायों के लौटने के मार्ग पर अब धूल नहीं उड़ती (कारण, उस पर इस समय कोई नहीं चलता। वह भी जन-शून्य हो गया है। अँधेरा हो जाने के कारण वह टेढ़ा-मेढ़ा मटमैला गो-पथ दूर से देखने पर) मटमैले (रंग के) सर्प के सदृश कुटिल (टेढ़ा-मेढ़ा और) पतला (दिखलायी पड़ता) है।

(उस) पूर्ण शान्ति (एकदम सन्नाटे के हृदय) को (उस

समय) केवल तीखे बाण के सदृश झींगुर की (तीव्र) ध्वनि विदीर्ण कर रही है। (उस समय की पूरी निस्तब्धता में झिल्ली की झनकार ही सुनायी पड़ती है। वह पूर्णतया स्पष्ट रूप से श्रवणगोचर होती है। इससे वह उस) सन्ध्याकाल की नीरवता को और भी गम्भीर (अथवा अधिक) बनाती है। (उस सन्नाटे की अधिकता का बोध इससे और भी अच्छी तरह होता है कि उसमें झींगुरों की झनकार बिलकुल स्पष्ट रूप से सुन पड़ती है। कारण, जितनी ही अधिक स्तब्धता होगी उतनी ही साफ कोई ध्वनि सुनायी पड़ेगी। इस समय झिल्ली-रव बहुत ही साफ सुनायी पड़ता है। इससे शान्ति की पूर्णता वा अधिकता सूचित होती है। वह झींगुरों की तीखी झनकार) जैसे इस (समय मन की) अत्यधिक शान्ति की विशाल छाती को (व्यापक शान्ति को) चिर अभिलाष (सतत उत्कण्ठा) की तीखी (पैनी) धार एक ओर से दूसरी ओर तक विदीर्ण कर रही हो। (जैसे इच्छा हृदय की शान्ति को पूर्णतया फाड़ कर उसके पार निकल जाती है, उसे पूर्णरूप से फाड़ डालती है वैसे ही झिल्ली-रव नीरवता को विदीर्ण कर रहा है।)

[तात्पर्य यह कि गाँव के चारों ओर सन्नाटा है। पक्षियों का कलरव एकदम बन्द है। केवल झींगुरों की सन-सन ध्वनि सुनायी पड़ती है।]

(प्रकृति में इस प्रकार की गहरी शान्ति के काल में) अब संध्या-समय (में कुछ काल पहले की आकाश) की सुनहली चमक लुप्त हो गयी—छिप गयी। (अन्धकार के व्याप्त हो जाने

से) संसार सभी रङ्गों और पदार्थों से रहित हो गया। (अँधेरे के कारण जगत् की कोई भी वस्तु स्पष्ट नहीं रह गयी और उसका रंग दिखलायी देना बंद हो गया।) गङ्गा के स्वच्छ (और) बहते हुए पानी में (पड़ती हुई सूर्य की लाल) किरण (रूपी) लाल कमल (अब) कुम्हला कर अपनी कोमल पंखुड़ियाँ बन्द कर चुका है। (अर्थात् गङ्गा का स्वच्छ जल बह रहा है। उसमें अब सूर्य की लाल किरणों का प्रतिबिम्ब नहीं दिखलायी देता। गङ्गा की) लहरों के ऊपर (सूर्य की किरणों की) सुन्दर सुनहली रेखा (अब वैसे ही) नीली पड़ गयी है जैसे अधरों की लालिमा तीव्र शीत (शिशिर के पाले) से भयभीत हो कर (नीली पड़ जाती है।)

[तात्पर्य—सन्ध्या का प्रकाश समाप्त हो गया। कोई पदार्थ तथा उसका रंग नहीं झलकता। गङ्गा के स्वच्छ जल के प्रवाह में सूर्य की लाल किरणों का प्रतिबिम्ब नहीं दिखलायी पड़ता और न उसकी लहरों के ऊपर इसके बाद के सूर्य की हलकी सुनहली रेखा ही रह गयी है।]

(कुछ समय और बीतने पर अब तो सूर्य की किरणें पेड़ों पर भी नहीं पड़ रहीं। बतलाओ तो सही कि) वृक्षों के सिरों (चोटियों) के ऊपर से वह सोने का पक्षी (पीताभ सूर्य) अपने सुन्दर पंखों को फैला कर (आकाश पर अपने पीतवर्ण के प्रकाश को विकीर्ण करता हुआ) किस गुफा रूपी घोंसले में (बसेरा लेने के लिए) किस मार्ग से गया (चला गया ?) सूर्य का जो क्षीण प्रकाश तरुओं की शिखाओं पर था वह देखते-

देखते किधर चला गया ? अब तो नया (सद्यःजात, अभी का) नीला-नीला (और) मृदु स्पर्श (हलका सा) काला (घना) अँधेरा कोमल (प्रिय) स्वप्नों (कल्पनाओं) से ओर-छोर को आवृत करके वृक्षों और वन में फैल गया है।

[अब तो पेड़ों की चोटियों पर भी सूर्य का प्रकाश नहीं रह गया। वह देखते देखते आँखों से ओझल हो गया। वृक्षों और वन में सर्वत्र घना अन्धकार छा गया है।]

(ऐसे समय कवि कहता है कि मैं) पश्चिम (दिशा के) आकाश में (गगन-मण्डल में पश्चिम की ओर) एक शुभ्र प्रखर (प्रकाशयुक्त) नक्षत्र देख रहा हूँ—निष्कलङ्क (निर्मल और) प्रशंसनीय एक तारा (वैसा ही है,) जैसे प्रकाश से युक्त विवेक (ज्ञान) प्रत्यक्ष हो गया हो (और) चिरस्थायी निश्चय हृदय में प्रदीप्त (हो गया) हो। वह (इस अँधेरी रात में) किस मनोहर (कल्पना की) इच्छा का दीपक लिये हुए (है और उसके उजाले में) किस (प्रिया) के पास (अपनी अभीष्ट-पूर्ति के निमित्त जा रहा है ? वह वैसा ही है) जैसे चाँदी की (श्वेत) सीपी (अपने भीतर के) मोती (के शुभ्र प्रकाश) से चमक रही हो। उसकी आत्मा का चिर (अभिलषित) धन क्या है (जिसके पाने के लिए वह इस प्रकार दीपक ले कर ढूँढने निकला है ? उसके) एकाग्र (और निर्निमेष नेत्रों का ध्यान क्या है ? (वह एकटक आँख खोले किसका ध्यान कर रहा है ?) क्या वह इस प्रकाश में (जगत् में खोया हुआ) निजत्व (आत्म-स्वरूप) ढूँढ रहा है ?

(यहाँ कवि तारे का वर्णन करना छोड़ 'क्या खोज रहा वह अपनापन' के अन्तिम शब्द 'अपनापन' को ले कर दार्शनिक बन गया। और प्रकृत वर्णन से विमुख हो अपने निजी निराशा-पूर्ण मन की बात कहने लगा कि यह) अपनापन दुष्प्राप्य है, दुष्प्राप्य है। यह सारा संसार जन-शून्य (एकाकी) जान पड़ता है। वह (संसार) इच्छा के सफल न होने से कङ्गाल है। (उसमें इच्छा की पूर्ति नहीं हुई। इससे वह जगत् अकिञ्चन है।) अभिलाष का उफनता हुआ प्रवाह प्रतिबन्ध (और) सत् असत् के भेद के ज्ञान को नहीं मानता। (वह तो जैसे भी हो अपने इष्ट की पूर्ति चाहता है। देखिये न) समुद्र (का हृदय) चिर अभिलाष से निरन्तर काँपता, उफनता (छलकता) है (और उसकी एक) लहर के ऊपर (दूसरी) लहर हहर (उमड़) कर (उमङ्ग से) नाचती है।

(ऐसे ही) सूर्य, चन्द्र (और) तारागण (भी) सतत इच्छा में ही रोक-टोक के बिना (अबाध गति से) नाचते (रहते) हैं— कभी क्षण भर के लिए भी स्थिर नहीं रहते। (सचमुच) इस वाञ्छा की जकड़न विकट (कठिन है। कोई भी इसके बन्धन से छूटा नहीं।

(इस प्रकार अपनी अथवा मानव की आकाङ्क्षा के बन्धन की कठोरता उस एकाकी नक्षत्र के प्रति आरोपित करते हुए कवि उसको सम्बोधित करके कहता है कि) हे नक्षत्र, क्या (किसी अभिलाष की पूर्ति के लिए तुम्हारे) व्याकुल प्राण (अथवा तुम्हारे प्राण व्याकुल हो कर) जल रहे हैं, (जिसका

यह तीव्र प्रकाश इस घने अँधेरे में तुम फेंक रहे हो ? तुम जो शुभ्र ज्योति छोड़ रहे हो क्या वह तुम्हारे) निःशब्द, निस्पन्द (चुपचाप) जलभरे नेत्र हैं ? अरे नक्षत्र, (संगिनी से रहित) एकाकी जीवन किसी काम का नहीं (और) निष्फल (है ।) अकेले रहने (से जीवन) का अँधेरा (कितना कष्टप्रद है ?) इसका बोझ (जो वेदना को अभिव्यक्त किये बिना ही चुपचाप सहना पड़ता है) असह्य है । इसके (द्वारा प्राप्त) दुःख का अन्त नहीं—वह अपरिमित होता है ।

[क्या यहाँ अकेले तारे को देखते-देखते, कवि को इस संग्रह के सत्ताइसवें गीत में उल्लिखित 'रूप-तारा तुम पूर्ण प्रकाम; मृगे-क्षणि ! सार्थक-नाम !' अथवा 'हृदय-नभ-तारा बन छविधाम प्रिये ! अब सार्थक करो स्वनाम !' से सङ्केतित वास्तविक अथवा काल्पनिक जीवन-सङ्गिनी का अभाव खटकने तो नहीं लगा ? क्या वह एकाकी नक्षत्र को अपने एकाकी जीवन का प्रतीक तो नहीं समझता ? क्या वह अपूर्ण अभिलाष होने के कारण नक्षत्र के बहाने अपनी तत्कालीन यौवन की उस व्यथा को तो नहीं व्यक्त करता जो वह जीवन की सहचरी के अभाव अथवा अप्राप्य होने के कारण उस समय अनुभव कर रहा था ? कुछ लोग यहाँ कुछ ऐसा ही आभास पा सकते हैं ।]

(अब कवि पुनः नक्षत्र की ओर मुड़ता है । वह कह चलता है कि मनुष्य के अभिलाष की पूर्त्ति न होने पर वह दुःखी हो सकता है ।) किन्तु प्रखर तारा (तो एकाकी होते हुए भी विषाद से मुक्त अपने जीवन में) सदैव अविचलित (रहता है ।) वह

इच्छाओं का बन्धन नहीं जानता। (वह इच्छाओं से बँधता नहीं। अर्थात् वह निरीह, निर्लिप्त है।) वह (इस) अनन्त (अपार आकाश रूपी सागर) का स्वतन्त्र (बन्धन-विहीन) मत्स्य है। अपने अकेलेपन अथवा एकाकी होने के आनन्द में (वह) निमग्न (डूबा) रहता है। (वह अकेला होते हुए भी सुखी रहता है और किसी दूसरे की चिन्ता नहीं करता।) अपने रूप में स्थित (टिका) रह कर वह सदैव (नित्य ही) नया (बना) रहता है। (वह कभी अपना रूप नहीं बदलता। सदा आत्म-स्वरूप में स्थित रह कर भी नये रूप में दिखलायी पड़ता है—नित्य उसमें नवीनता ही प्रतीत होती है। कभी वह पुराना नहीं जान पड़ता।) वह अनुपम अथवा असाधारण (नक्षत्र दीपक की) अडिग (स्थिर) लौ की तरह संसार के जीवन का अन्धकार विदीर्ण करता (और उसमें प्रकाश की रेखा अङ्कित करता है।) वह निर्विकार, ज्ञान-युक्त (और) देदीप्यमान है। वह (सदैव, सभी स्थितियों में) एक-सा (अपरिवर्तित, समभाव में) रहता है।

(अब कवि की भावना में पुनः परिवर्तन होता है। उसे वह घना अँधेरा आनन्द—मधु—मय प्रतीत होता है। उसे लगता है कि अत्यन्त विस्तृत—अपार—निर्जन नीले कमलों पर भ्रमरों का गुञ्जार हो रहा है। अतएव वह कहता है कि अब) जन-शून्य (नीरव निस्तब्ध और) अत्यन्त व्यापक (अपार तथा सन-सन करता हुआ झिल्ली-रव से पूर्ण बहुत ही) गहरा अँधेरा (मुझको उन नीले कमलों के सदृश) आनन्द (मधु) से परिपूर्ण प्रतीत होता है (जिन पर श्याम वर्ण के) भ्रमरों की (मन्द-मन्द)

गूँज (सुनायी पड़ रही हो। अब मेरे हृदय से) अकेला (होने की) वेदना का बोझ हलका हो गया—मेरे मन से यह दुःख दूर हो गया कि मैं अकेला हूँ। (इस प्रकार हृदय के हलका होते ही कवि ने जो प्रसन्न मन से आकाश की ओर आँख उठायी तो देखा कि) आकाश का आँगन (रूपी कुन्द का हरिताभ पौधा नक्षत्र रूपी श्वेत) कुन्द की कलियों से बहुत अधिक भर गया (उसपर कुन्द की शुभ्र कलियों के समान अगणित उज्ज्वल नक्षत्र चमकने लगे।)

(इस प्रकार) वह (एकाकी नक्षत्र) आत्म-दर्शन (अपने आप को देखने) और यह (असंख्य नक्षत्रों का आलोक) विश्व (के रूप) का प्रत्यक्षीकरण है। (उसमें मुझे अपना एकाकी पन दिखलायी दिया और इसमें संसार का जगमगाता रूप।)

दोष—पचीसवीं पंक्ति के अन्तिम अंश 'किसके समीप' में क्रिया पद के अभाव से न्यूनपदत्व दोष है। तेंतीसवीं पंक्ति में 'थर-थर' का 'थर्-थर्' रूप विचारणीय है।

अलङ्कार—इस कविता में परम्परित रूपक के कई मनोहर उदाहरण मिलते हैं। देखिये, सातवीं, नवीं-दसवीं, सत्रहवीं अठारहवीं पंक्तियाँ। 'निर्जन गोपथ अब धूलि-हीन, धूसर भुजङ्ग सा जिह्म, क्षीण' तथा 'लहरों पर स्वर्ण-रेख सुन्दर पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर अरुणाई प्रखर-शिशिर से डर' में उपमा का सौन्दर्य दर्शनीय है।

चाँदनी

[४१] नीले नभ के शतदल पर

शब्दार्थ—शतदल = कमल। **शारद-हासिनि** = शरद काल की हँसने वाली (चन्द्रिका। हँसी का वर्ण साहित्य में श्वेत माना जाता है।

इससे चन्द्रिका को हँसी की शुभ्रता बिखेरने वाली कहा गया है।) **अनिमिष**=अपलक, एकटक, निरन्तर। **अग-जग**=अग—वृक्ष, पर्वत (अर्थात् स्थावर) और जग—गतिशील (अर्थात् जंगम), जड और चेतन, समस्त संसार। **चल-चितवन**=चञ्चल दृष्टि। **दल**=पत्ती। **कुड्मल**=खिलती हुई कली। **दल**=परत की तरह फैली हुई किसी लम्बी वस्तु की मोटाई। जैसे, शीशे या पत्थर का मोटा दल। **स्तब्ध**=मन्द, धीमा। **गोपन-सम्भाषण**=छिपाव की बातचीत। **हौले-हौले**=धीरे-धीरे, चुपके-चुपके। **अनिर्वच**=अनिर्वचनीय, जिसका ठीक-ठीक वर्णन न किया जा सके वह। **जीवाशय**=जीव का आशय, जीव की स्वानुभूति का स्थल, (**आशय**=भावना का स्थान, मन)।

सङ्केत—इस कविता में कवि अपने मन का उल्लास चाँदनी में व्याप्त देखता और उसका प्रसन्न रूप अङ्कित करता है। शरद की निखरी, खिली और नेत्रानन्ददायिनी ज्योत्स्ना का विविध रूपकों और कल्पनाओं से सजाया हुआ यह शब्दचित्र देखते ही बनता है।

व्याख्या—नील (वर्ण के) गगन रूपी (नील) कमल के ऊपर वह शारदीया (खिलखिला कर) हँसने वाली (पूर्णरूप से व्याप्त निर्मल चन्द्रिका अपनी) कोमल हथेली पर चन्द्रमा रूपी (अपना) मुख रखे अकेली, चुपचाप और अपलक (स्थिर दृष्टि से, एकटक देखती जैसी) विराजमान है। (स्वच्छ नीलाकाश पर शरद् ऋतु की चाँदनी छिटकी है। चांद एक ही स्थान पर टिका जैसा प्रतीत होता है। वही उस चाँदनी का मनोहर मुँह है। प्रकृति में निस्तब्धता है।)

(चाँदनी की) वह स्वप्नावस्था को (अलसायी, अधखुली कुञ्ज) नीचे की ओर झुकी (आँखों की) दृष्टि अखिल जड-चेतन (जगत के पदार्थों एवं जीवों) के अन्तस्तल को स्पर्श

करती (और उन्हें उससे पुलकित करती है। वह श्याम—कजरारे-नेत्रों के वर्ण की छाया पड़ने से) श्यामल सुकुमार (और) चञ्चल दृष्टि, जो संसार के (प्राणियों के) जीवन को (अपने प्रभाव से मदमत्त करके) उमङ्ग से भर देती है (जिससे वे सभी आनन्द से भर कर झूमने लगते हैं। अर्थात् चाँदनी को देख कर समग्र सृष्टि उल्लास से भर गयी है।)

(वह शुभ्र ज्योत्स्ना श्वेत रङ्ग के) फूले हुए बेला (के फूलों) का (ऐसा विस्तृत, व्यापक) वन है, जिसमें (सामान्य बेला के फूलों के सदृश) डंठल, पत्ते (और) कुछ कुछ खिली हुई कली (जैसे कठोर अवयव) नहीं हैं। (अर्थात् नाल, दल और कली सामान्यतया कोमल होते हैं, किन्तु इनके स्पर्श में कुछ न कुछ कड़ापन रहता है। चाँदनी में लेशमात्र भी कठोरता नहीं, वह नितान्त कोमल है अतएव उसमें) केवल (उसके फूलों का) अत्यन्त स्वच्छ (उज्ज्वल और सुकोमल) विकास है, (वह बेला के फूलों के सौन्दर्य से ही युक्त और उसके अन्य दोषों से मुक्त है,) जिसमें दसों दिशाओं के दल समाये हुए हैं। (अर्थात् बेला के विकास मात्र की सुकुमारता की सी उस चाँदनी से समस्त भू-मण्डल और आकाश परिपूर्ण है।)

(अब नदी के तट पर फैली चाँदनी की निस्तब्ध सुषमा को सोती हुई सुन्दरी के रूप में चित्रित करते हुए कवि कहता है कि) वह (चन्द्रिका) नदी के (निःशब्द, सुनसान) किनारे (रूपी शय्या) के ऊपर सोयी (चुपचाप, हिले-डुले बिना स्थिर) है। (उस सुप्तावस्था में उसकी) साँसों में मन्द पवन (चल रहा)

है। बस (नदी के ऊपर उस धीमे धीमे आने-जाने वाली साँसों से सञ्चरित पवन के लगने से उठती हुई) हलकी-हलकी लहरों के ऊपर ही (उस निद्रिता सुन्दरी के) सुकुमार-कोमल हृदय की धड़कन पायी जाती है। (तात्पर्य यह कि नदी के शान्त किनारे पर चाँदनी जैसे प्रसुप्तावस्था में है। वहाँ जो मन्द-मन्द पवन चल रहा है वही सोते समय धीमी-धीमी साँसों का चलना है। उस मन्द-समीर के स्पर्श से नदी में जो हलकी-हलकी लहरें उठ रही हैं वही निद्रागत नारी रूपिणी चाँदनी की छाती का धीरे-धीरे उठना-गिरना है। इस प्रकार, नदी के किनारे चाँदनी फैली है। मन्द-गामी पवन चल रहा है। छोटी-छोटी लहरें उठ रही हैं।)

(नदी-तट की चाँदनी के रूप की कल्पना करने के बाद ही पर्वत की चोटी पर पड़ती हुई चाँदनी की शोभा को देख कर कवि कल्पना करता है कि) वह (चन्द्रिका-सुन्दरी पर्वत के) रमणीक सिरे पर अपनी परछाईं में छिपी हुई (कुछ श्यामलता लिये हुए रूप में) खड़ी है। (अब नदी के किनारे और पहाड़ के शिखर से हट कर वह कल्पना के पंखों से उड़ कर सागर के किनारे पहुँच जाता है। वहाँ देखता है कि) समुद्र की प्रत्येक लहर के ऊपर (पड़ने वाली चन्द्रिका से बनी हुई) सैकड़ों छवियाँ (मूर्तियाँ) नृत्य कर रही हैं। (समुद्र की उमड़ी हुई चञ्चल लहरों पर चाँदनी पड़ने से अनेकानेक सुन्दर आकृतियाँ बनती और उन लहरों के साथ ही नाचती हुई दिखलायी पड़ती हैं।)

(कवि अब दूसरा रूपक सामने लाता है।) दिन की चमक

(कान्ति, दीप्ति) दुलहन (नयी ब्याही हुई स्त्री) का रूप धारण कर सुन्दरता की लाजवती लता के समान सिकुड़ती-झिझकती सुकुमार (और) प्रिय (मन को रुचिकर) लज्जा से (भरी अपने वस्त्रों के समेटने के कारण उठती हुई) खरखराहट (करती हुई अपने अब तक अपरिचित अज्ञात पति के पास) रात के एकान्त शयन (-कक्ष—सोने के गृह) में उससे मिलने आयी है। अर्थात् इस समय चाँदनी स्तब्ध सी सिमटी-जैसी दिखलायी पड़ती है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह पति के पास प्रथम मिलन के अवसर पर आयी हुई लज्जालु नव-वधू है। वह पति से मिलने की उत्कण्ठा से युक्त होते हुए भी उसके पास लाज से भरी हुई आती है, उसके अंग-अंग से छुई-मुई की सी लज्जा-शीलता दिखलायी पड़ती है। फिर भी वह आगे बढ़ती है, अपने वस्त्रों को समेटती हुई कुछ खर-खर की धीमी-धीमी ध्वनि उत्पन्न करती है। ऐसी ही दशा चाँदनी की है। दिन की कोमल-कान्ति उसमें फूट रही है। उसमें नारी-सुलभ लज्जा की सुषमा है। प्रकृति में पूर्ण निस्तब्धता होते हुए भी हवा साँय-साँय चल रही है। वह मानो नव-वधू के वस्त्र समेटते हुए चलने का मर-मर है।)

वह (चाँदनी अब मालिन का रूप धर कर) प्रत्येक क्षण संसार के (प्राणियों के मन के) अस्पष्ट स्वप्नों (अविकसित इच्छाओं, कल्पनाओं आदि की रंगीन वासनाओं) की माला पिरोती रहती है। (उसके द्वारा मानव-अभिलाषों की माला निरन्तर गूँथी जाती है—उसमें मानव-हृदय अपने हृदय की सुखद कल्पनाओं का निर्माण अनवरत करता रहता है। उसकी

साड़ी का) ओस (के विन्दुओं के रूप) का (शुभ्र और पारदर्शी झीना) आँचल (जिसके भीतर से उसका गौर-वर्ण फूट रहा है विश्व के प्राणियों के प्रति उमड़ते हुए उसके हृदय की) करुणा से (सिक्त हो कर) सदैव गीला-गीला रहता है। (अर्थात् रात में पड़ने वाली ओस के कणों का जाल ही उस चन्द्रिका-सुकुमारी का लोक के प्रति दयार्द्र रससिक्त अञ्चल है।)

वह (ज्योत्स्ना रात में मुख बन्द किये सोयी हुई) कलियों (को चुपके-चुपके चूम कर उन) के मुखों में (अपने) मोती (जैसे स्वच्छ दाँतों से पूर्ण मुख) का चुम्बन उँडेलती है। (वह उन कलियों को प्रेम स्पर्श से शुभ्र बनाती है। और सरिता वा सागर की आनन्दोच्छ्वास से चञ्चल) तरङ्गों (के रूप की) चपल हथेलियों के ऊपर चाँदी के (शुभ्र) चञ्चल तारों को (भर देती है। अर्थात् नदियों की लहरें उनकी हथेलियाँ हैं। वे ऊपर उठ-उठ कर चन्द्रिका से अपना अभीष्ट माँगती हैं। वह उनको चाँदी के तारों के उपहार से परिपूर्ण कर देती है। लहरों को शुभ्र तारों के प्रतिबिम्ब की झलक प्रदान करती है।)

(आगे चाँदनी की क्षीण झिलमिली का रूप चित्रित करते हुए कवि कहता है कि) वह (चन्द्रिका) सुगन्ध के क्षीण (पतले) बादल (के स्तर) के समान है जो हवा में निरन्तर मिला (हुआ उसके साथ उड़ता रहता है। वह) आनन्द के उमड़े (बढ़े, उठे) हुए समुद्र के सदृश है जिसमें (उसके पाने वाले के) हृदय रूपी किनारे डूब गये हैं—पूर्णानन्द में समाये हृदय के विशाल आनन्द के (शुभ्र) सागर रूपी प्रसार की-सी

चाँदनी की शुभ्र आभा जगत् में सर्वत्र व्याप रही है।

वह (चाँदनी) स्वप्नावस्था में (अर्द्ध-निद्रित अलसाई) नींद की कली की नाईं (है जिसकी) दिन की कान्ति रूपी पंखुड़ियाँ बन्द हैं। (उस कमल-कली) के अन्तराल में (समस्त चेतन) विश्व रूपी भ्रमर (बन्द हो कर निस्तब्ध) सो रहा है जिसका मधुर जीवन-गुञ्जार (जीवन-संगीत इस समय) शान्त है। (अर्थात् चन्द्रिका क्लान्त कलिका है। रात में उसकी पंखुड़ियाँ मुँदी हुई है। चन्द्रिका में दिन की कान्ति अन्तर्हित है। कमल के ऊपर भन-भन करनेवाला उसका रस-पान करने में मग्न भौंरा सायंकाल का आगमन नहीं जान सकता और उसके सम्पुट के साथ ही उसमें बन्द हो जाता है।। ऐसी दशा में मधुर गुञ्जन उसी कमल के भीतर भौंरे के साथ रात में जैसे सो जाता है। संसार के समस्त जीवों का जो कलरव दिन भर सुनायी पड़ता है वह अब रात में बन्द हो गया। वह उस चाँदनी के वक्षस्थल में छिपा निद्रित और शान्त पड़ा है।)

वह (चन्द्र-प्रभा) आकाश के प्रेम के (प्रेमरूपी अथवा प्रेम से युक्त) कान में दिशा की गुपचुप कानाफूसी है। (आकाश ने प्रेम की बात सुनने के लिए जैसे अपना कान दिशा की ओर झुका दिया है। उसमें वह दिशारूपिणी उसकी प्रेमिका धीरे-धीरे कुछ कह रही है। चन्द्रिका वह गुप्त बातचीत है। वह प्रेमियों की) आँखों के चुपचाप (एक-दूसरे से) सम्मिलन में (उन दो) प्राणों का प्रिय आत्मार्पण है। (दो प्रेमियों की आँखें चार होती हैं। वे बोलते तो नहीं, किन्तु आँखों के द्वारा अपने को एक दूसरे

को चुपचाप सौंप देते हैं । चाँदनी आकाश और दिशा का यही परस्पर मौन समर्पण है ।)

वह आकाश की विशाल हथेली के ऊपर सृष्टि की एक बूँद है, जिसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक के सभी भेद अपरिमित सुन्दरता में डूबे हुए हैं—वह पूर्ण रूप से सुन्दरता में ओत-प्रोत है ।

जगत् के (प्राणिमात्र के) जीवन के (चैतन्य-सूचक) शब्द धीरे-धीरे विलीन होते हैं । वह (चन्द्रिका उन्हीं शब्दों का) अन्त है, भले ही (वह) अज्ञात हो । वह शब्द-(ध्वनि) विहीन (नीरव) पवित्र उद्देश्य (अभिप्राय) है । (तात्पर्य यह है कि जब विश्व के जीवों की चेतना को व्यक्त करने वाला रव सायंकाल चुपके-चुपके कम होते-होते समाप्त होने को आता है तब उसका अन्त इस निस्पन्द चाँदनी की गम्भीर-शान्ति में मिलता है । चाहे यह बात ज्ञात न हो, फिर भी है तो सत्य । इस प्रकार वह चाँदनी नीरवता से पूर्ण—शब्दों के द्वारा प्रकट न किया गया मन में चुपचाप रहने वाला—पवित्र उद्देश्य है । जैसे शुद्ध आशय वचनों से व्यक्त नहीं किया जाता, मन के भीतर ही अपना दिव्य प्रकाश फैलाता है वैसे ही चाँदनी भी अव्यक्त है, निःशब्द है ।)

वह निःशब्द (चुपचाप), एकटक नेत्रों की कभी समाप्त न होने वाली एक प्रतीक्षा है । वह (ऐसी) कान्ति है जो छूने के योग्य नहीं और जो दिखलायी नहीं पड़ती । वह जीवन की आँसू-भरी आँख का पल है । (अर्थात् जैसे स्थिर, अचञ्चल नेत्रों से

किसी की राह देखना होता है वैसे ही एक सी दशा में चाँदनी नीरव रात में दिखलायी पड़ती है। वह अस्पृश्य और अदृश्य कान्ति इसलिए है कि उसे देखा तो जाता है किन्तु वह स्पर्श नहीं जा सकती और न प्रत्यक्ष प्राप्त ही हो सकती है। जीवन रूपी आँसू भरी आँख का क्षण इसलिए कि आँसू भरी आँख से कुछ स्पष्ट नहीं देखा जा सकता। जो कुछ दिखलायी पड़ता है वह धूमिल ही होता है। चाँदनी को जीवन का वह क्षण जो स्पष्ट न जाना जा सके क्यों कहा गया है? वह कुछ धूमिल है जिससे उसका पूर्ण सौंदर्य दृष्टिगोचर नहीं हो पाता।)

(कवि कहता है कि ऐसी विविध रूपों वाली) वह (ज्योत्स्ना) चाँद की किरणों (की सीढ़ी) के द्वारा मेरे (घर अथवा मन के) आँगन में (आकाश से) चुपके (चुपके अर्थात् किसी भी प्रकार की ध्वनि किये बिना ही, शान्तिपूर्वक) नीचे आयी है। (वह मेरे) हृदय की दीप्ति में खोयी हुई है (और) अपने ही सौन्दर्य से सुन्दर है। (मेरे आँगन में आ कर वह ढूँढने से मिलती नहीं। कारण, मेरे हृदय की कान्ति में छिप गयी है—मेरे हृदय की ज्योति में मिल कर वह उससे एकाकार हो गयी—उससे अलग दिखलायी नहीं पड़ती। उसके सौन्दर्य का कारण कोई बाह्य उपकरण नहीं, स्वतः उसी की शोभा है।)

(अब बहुत दिन बीत जाने पर भी) वह (इस कविता की रचना करते समय) मेरी (कल्पना की) आँखों के सामने उपस्थित है। (उसका वह) समस्त रूप, चिह्न और वर्ण दिखलायी नहीं पड़ता। (अब तो मेरे) मन में केवल अनुभूति की तरह

(उसका) शान्त, पवित्र (और) शुभ्र प्रतिबिम्ब (बना है।)

(इसलिए कह सकता हूँ कि) वह (चाँदनी अब भी) है। (किन्तु वह सचमुच नहीं, केवल उसकी स्मृति शेष है—इससे कहना चाहिये कि) वह नहीं है। (वह है भी और नहीं भी है—इस प्रकार के विरोधाभास के कारण ठीक तो यह कहना होगा कि वह) अनिर्वचनीय (वर्णनातीत) है। संसार उसमें विलीन है (और) वह संसार में व्याप्त है—एक ओर से देखने पर जान पड़ता है कि रात में फैली हुई चाँदनी के भीतर ही शान्त विश्व (का जीव-समुदाय) लीन है। दूसरी ओर अब उसकी स्मृतिमात्र की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वह अब संसार में मिल गयी है—उसका अलग, स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।) वह प्रत्यक्ष रूप-धारिणी चेतना (सजीवता) के सदृश है, जिसमें जीव का संस्थान अचेतना (प्रसुप्ति) की अवस्था में रहता है। (अर्थात् वह उस चैतन्य के समान है जो प्रत्यक्ष आकार ग्रहण कर चुका है किन्तु जिसके भीतर आत्मबोध-विहीन जीव का निवास है।)

दोष—'वह फूली बेला की वन' में 'बेला' का और 'वन' का प्रयोग स्त्रीलिंग में हुआ है। 'उसके ओसों का अंचल' में 'ओस' का प्रयोग पुंल्लिग में हुआ है। इसी प्रकार, 'दिशि की गोपन-सम्भाषण' तथा 'प्राणों की मधुर-समर्पण' में क्रमशः 'सम्भाषण' और 'समर्पण' भी स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुए हैं। 'हैं नाच रहीं शत-शत छवि' में क्रिया और कर्ता के वचन एक-से नहीं है। इन सब प्रयोगों में 'व्याकरण-विरुद्ध' दोष है। 'उसके ओसों का अञ्चल' में 'ओसों' का बहुवचनान्त निराला प्रयोग विचारणीय है। 'जिसमें निमग्न उर तट स्थल' में 'तट स्थल' का संस्कृत के नियमानुसार ठीक उच्चारण माना जाय तो 'ट' की दो मात्राएँ होंगी और तब

छन्दोभङ्ग दोष मानना होगा, परन्तु हिन्दी में बहुधा ऐसे समस्त पदों में संयुक्त वर्ण के पहले का ह्रस्व वर्ण खींच कर नहीं बोला जाता। इस प्रकार यहाँ यह दोष न माना जायगा। फिर भी 'तट थल' जैसा तो इसका उच्चारण होगा ही नहीं। अतएव कम से कम प्रवाह में बाधा तो उपस्थित करेगा ही।

अलङ्कार—पहले छन्द में परम्परित रूपक है। फिर प्रत्येक छन्द में नये नये रूपक का प्रयोग करके परम्परित रूपकों की मनोरम माला निर्मित की गई है। तीसरे छन्द में व्यतिरेक है।

अप्सरा

[४२] निखिल-कल्पनामयि अयि अप्सरि !

शब्दार्थ—अप्सरा = स्वर्ग में, इन्द्र की सभा में नृत्य करने वाली परम रूपवती देवाङ्गना। **निरर्थ** = जिसका अर्थ न किया जा सके, अव्यक्त। **कुहकिनि** = मायाविनि, इन्द्रजाल (जादू) जानने वाली। **विभ्रम** = भ्रान्ति, धोखा। **चित्र-विचित्र** = रङ्ग-बिरङ्गी। **तन्द्रा** = ऊँघ, पूरी नींद आने के पहले अथवा अच्छी तरह नींद छूटने के बाद की अलसाई दशा। **सविलास** = हर्ष, आनन्द अथवा मनोविनोद पूर्वक। **दन्त कथा** = परम्परा से सुनी गयी बात जिसकी सत्यता का कोई प्रमाण न हो। **रूपाभास** = रूप की झलक, काल्पनिक रूप। **उद्दाम** = जो बन्धन न माने, उच्छृङ्खल, निरङ्कुश। **याम** = पहर। **देहलता** = क्षीण, सुकुमार शरीर। **अराल** = तिरछा, भङ्गिमापूर्ण, बंक। **तपक** = चमक कर। **तडित** = बिजली। **सजात** = सहजन्मा, एक साथ जन्मे, एक साथ उत्पन्न, जुड़वाँ। **मसृण** = चिकना और कोमल। **छायांचल** = छाया रूपी साड़ी का अञ्चल अर्थात् छाया की साड़ी। (अञ्चल से साड़ी—अङ्ग से अङ्गी—का अभिप्राय है।) **कंचु** = कंचुक, चोली। **सिरातीं** = शीतल, ठंढा, करती हैं। **शयन** = शय्या। **चटुल** = चञ्चल, सुन्दर, मृदुभाषिणी। **कच** = सिर के बाल। **तार** = चाँदी, मोती। **तरल** =

चमकीला, उज्ज्वल। **लहरांचल** = लहरों के रूप का साड़ी का आँचल। **विचक** = बिचकित। **हार** = मनोहर। **अभिसार** = प्रियतम से मिलना, प्रियतम के साथ विहार। **'सिंगार** = हर सिंगार। **वीचि** = लहर। **पद-चार** = पद सञ्चरण। **गन्ध-अन्ध** = सुगन्ध की अधिकता से बौराया, झूमता हुआ धीरे धीरे बहने वाला सुवास-युक्त। **दिनमान** = दिन भर के समय का मान, दिन, दिवस। **ईप्सित** = इच्छित। **पृथु** = प्रशस्त, चौड़ा, विशाल। **परिधान** = वस्त्र, पहनना।

सङ्केत—स्वर्ग की अप्सरा बहुत सुन्दरी मानी गयी है। उसी की झलक पृथ्वी पर किसी असाधारण सौन्दर्यमयी नारी में देखी जाती है। यहाँ कवि अपनी कल्पना के लोक में जिस अनिन्द्य सुषमा से सम्यक् रूपेण सुसज्जित अप्सरा की अवतारणा करता है उसमें प्रकृति के सौन्दर्यपूर्ण जितने भी उपादान हैं उन सब की कुशल समष्टि है। प्राकृतिक पदार्थों को सौन्दर्य का उपमान सदा से समझा गया है। यहाँ कवि उन सब को ले-ले कर उनसे अपनी भावुकता के द्वारा अलौकिक रमणीयता की मूर्त्ति का सृजन करता है। इस कविता में अलङ्कारों, कल्पनाओं और भावनाओं का सुन्दर सम्मिश्रण है।

व्याख्या—हे (कवि वा मानव की) समस्त कल्पनाओं (के सौन्दर्य) से युक्त, अवर्ण्य (वर्णनातीत), असाधारण (जगत् के परे), अविनाशी (चिरन्तन अर्थात् युग-युग से और युग-युग तक सदैव विद्यमान) एवं अदृश्य (दिखलायी न पड़ने वाले) गम्भीर, अव्यक्त (अनिर्वचनीय) अनहोने और अस्पष्ट भावों को उद्दीप्त करने वाली, रहस्यों (गूढ़ तत्त्वों अथवा मर्मभरी कल्पनाओं) की शोभा बढ़ाने वाली, मुग्ध करने वाली, मायाविनि (जादूगरनी), कपट एवं भ्रान्ति से पूर्ण, रंग-बिरंगी (तथा), अछोर (अन्तहीन) अप्सरे, तुम शिशुता (के साथ-साथ विचरण

करने वाली उस) की सुभिज्ञ सङ्गिनी हो। (शिशु की) माँ का (यह) अनुमान (है कि) संसार (की बातों के ज्ञान, अनुभव आदि) से नितान्त अपरिचित नवजात (छोटे से) बच्चे के साथ तुम छिप-छिप कर (अदृश्य रूप से) रहा करती हो। (माताओं की धारणा होती है कि नवजात बच्चे की रक्षा गुप्त रूप से कोई न कोई अप्सरा किया करती है। तभी न उस) शिशु के मुँह में (सब के देखते उसी के द्वारा, किन्तु वास्तव में तुम, उसी के हाथ वा पैर का) अँगूठा डाल कर (अपने) मधुर स्तन का दान देती हो। (अपने स्तन का मीठा दूध उसे पिलाती हो— शिशु अपना अँगूठा चूसने मे निरन्तर संलग्न रहता है। इस प्रकार वह तुम्हारे मधुर स्तन्य का पान किया करता है। तुम) निःशब्द (चुपचाप, सुनायी न पड़ने वाली) लोरियाँ गा-गा कर (और) अदृश्य (दिखायी न देती) थपकियों के द्वारा उस (शिशु) को सुलाया करती हो। (जब वह सोने को होता है तब) तुम तन्द्रा (अर्थात् ऊँघ) रूपी देव-पथ (अथवा आकाश) से प्रसन्नता-पूर्वक शिशु के हृदय में (झट) पहुँच कर (उसके) ओंठ रूपी अविकच कलियों में (उसकी) स्वप्न की अथवा (स्वप्नावस्था में की गयी) हँसी को (अपनी तूलिका से) रञ्जित कर देती हो। (अर्थात् जब तुम्हारी अदृश्य थपकियों के द्वारा और नीरव लोरियों को सुनते-सुनते बच्चा ऊँघने लगता है तभी तुम चुपके-चुपके उसके हृदय में घुस जाती हो। सोते समय सुखद स्वप्नों को देख कर प्रसन्न शिशु जब हँसता है तब कलियों के सदृश उसके छोटे-छोटे ओठों के ऊपर तुम्हीं

उसकी हँसी रँग दिया करती हो। सोते-सोते जब बच्चा बार-बार मुसकराता वा हँसता है तब तुम्हीं उसके हृदय की हँसी उसके होठों पर ला देती हो।) भोले भाले बच्चे (अपनी बूढ़ी दादी, नानी आदि से) लोक-गाथाओं (कहानियों) के द्वारा वास्तव में असत्य, किन्तु उन दिनों अपनी समझ में सत्य) अद्भुत इतिहास (वृत्तान्त) सुन कर (अपने) नवीन नेत्रों में नित्यप्रति तुम्हारे रूप की झलक का निर्माण किया करते हैं। (तात्पर्य यह कि जब बूढ़ों के मुँह से बच्चे अनोखी-अनोखी कहानियाँ सुनते हैं तब उनमें वर्णित तुम्हारे सम्बन्ध की बातों को सच मान लेते हैं। कारण, उस समय उनका ज्ञान अपरिपक्व होता है। इसी से वे नित्य नयी कहानी सुनने पर तुम्हारे सम्बन्ध में नित्य नयी कल्पना करते हैं। तुम उनकी आँखों में नित्य नये रूप की झाँकी दिखलाया करती हो। फिर जब यही बालक बड़ा हो कर किशोरावस्था पूरी करके युवावस्था में पदार्पण करता है तब) पहले-पहल रूप की मदिरा (के पान) के द्वारा मद-मत्त (और) निरङ्कुश यौवन में (उसकी आँखों में) सुन्दर तुम (ही उसकी) प्रेमिका के (शरीर के) प्रत्येक अवयव में लिपटी (दिखलायी पड़ती हो। आशय यह कि यौवन के आरम्भ होने पर युवक नारी के सौन्दर्य को देख कर मद-पान किये के सदृश मतवाला हो जाता है। उस समय उसका मन उसके वश में नहीं रह जाता। वह अपनी प्रेयसी के अङ्ग-अङ्ग में तुम्हारे ही मनोहर रूप की कल्पना करता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी प्रेमिका के शरीर में अलौकिक सुन्दरी अप्सरा का सौन्दर्य है।)

तुम (युवक की आँखों में ही युवती के सभी अङ्गों के सौन्दर्य की सृष्टि बन कर नहीं बसतीं, अपितु जिसको अपने यौवन के आगमन का बोध नहीं होता उस मुग्धा) युवती के हृदय में भी रहस्य बन कर (तथा उसकी) सुन्दरता की स्थली (जहाँ शोभा अपना डेरा डाल कर टिक गयी है उस) क्षीण, सुकुमार देह में (उसके हृदय के हर्ष से उत्पन्न) कोमल रोमाञ्च रूपी (अगणित कोमल) कलियाँ भर कर रोम-रोम को हर्षोत्फुल्ल कर के उसी के) मन को प्रति पहर (दिन-रात, सदैव) मोहित किया करती हो। (अर्थात् यौवन के आरम्भ में मुग्धा युवती को स्वयं ही अपने मन की भावनाओं के अज्ञातरूपेण परिवर्तन, एवं अपने शरीर के विविध अवयवों के उभार की समस्त बातों का पूर्ण बोध नहीं होता—वह अपनी दशा से स्वयं ही अपरिचित रहती है। उस समय उसके शरीर में प्रेम का उदय रह-रह कर स्वतः होता रहता है। इससे उस पर रोमाञ्च होता है। वह सुन्दर लगता है। यह सब तुम्हारे ही कारण होता है। तुम उसके मन में रहस्य का रूप बना कर प्रविष्ट हो जाती हो न! इसी से उसकी मानसिक दशा भूली-भूली सी और देह रोमाञ्चित रहती है।)

(इस प्रकार अबोध शिशु, उठते यौवन के युवक और मुग्धा युवती के भीतर अप्सरा के क्रमशः गुप्त, मदिर और रहस्यमय रूपों की छिपी झलक देखने के अनन्तर कवि उसके उन कार्यों का वर्णन करता है जिनका पुराणों में उल्लेख मिलता है। पुराणों के वर्णन के अनुसार अप्सरा इन्द्रलोक की देवाङ्गना है। अतः

अब उसके स्वर्ग के विहार का सजीव चित्रण करते हुए कवि कहता है कि) स्वर्ग (की अमरावती) में (अपनी गोरी) नंगी देह में सतरंगे इन्द्र धनुष की छाया रूपिणी (झीनी) कोमल साड़ी पहन कर (जिससे तुम्हारी देह पूर्णतया झलकती है और) नीले आकाश रूपिणी (अपनी) चोटी (कबरी) में विकसित (खिले हुए अथवा फैले) कुन्द (नामक पुष्प) की कान्ति वाले चन्द्रमा को खोंस कर (नाचते समय) बिजली रूपिणी चकपकायी (चञ्चलता से इधर-उधर देखने वाली अपनी) दृष्टि (के निक्षेप) से अपरिमित (असंख्य) देवताओं की मण्डली (के मन में प्रेम का उद्दीपन बन कर उस) को अधीर करके तुम (अपने) हलके पद-क्षेप (धीरे-धीरे, हलके-हलके पैरों) के द्वारा (हर्ष-सूचक) रोमाञ्च (कारी) नृत्य करती हो।

(जब) तुम स्वर्गंगा (मन्दाकिनी) में (खिले) कमल की नाल (रूपिणी) भुजलताओं से (तैरती हुई और उनसे गङ्गा के चञ्चल जल में) पैरते हुए (स्वर्ग के) चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब रूपी सैकड़ों चाँदी के (शुभ्र वर्ण वाले) हंसों को पकड़ कर (उस) स्वर्गंगा (मन्दाकिनी) में जल क्रीडा करती हो (तब तुम्हारे हाथों के द्वारा मन्दाकिनी के जल के) उज्ज्वल फेन की बूँदें (स्वर्ग के) आकाश में उछल-उछल कर तारों के बच्चे (छोटे-छोटे टिमटिमाते तारे) बन जाते हैं (और) जल (स्नात अर्थात् पानी-दार, चमकती हुई तुम्हारी) देह (उस मन्दाकिनी की तुम्हारे तैरने के अथवा तुम्हारे स्पर्श के उल्लास से) चपल लहरों में (रक्त) कमलों की पंक्ति (के रूप में) झलकती है। (स्वर्गङ्गा में तुम्हारी

जल-स्नात देह की छाया पड़ती है, जिससे उसके जल में खिल रहे कमलों की अवली बन जाती है।)

(पृथ्वी के) उस पार (दूसरे छोर पर) आकाश में सूर्य की (किरणों की) सुषमा से स्पृष्ट उड़ते हुए बादलों के ऊपर बिजली (के चमकने) के कारण डरे हुए सुकोमल चन्द्रमा (के भीतर की छाया) के मृग रूपी बच्चे को (अपनी) गोद (वा गले) से चिपकाकर, (वहाँ से जाते समय) आकाश में तारक वृन्द रूपी (अपने) हलके पैरों के चिह्न छोड़ती हुई (ऐरावत) गज के दाँत (रूपी स्तम्भों पर) झुके (रखे हुए) इन्द्र-धनुष रूपी पुल को नित्य ही पार किया करती हो। (अर्थात् उड़ते हुए बादलों को सूर्य की किरणों की शोभा स्पर्श करके सुन्दर बनाती हैं। ऐसे मनोहर बादलों में बिजली चमकती है। उससे भयभीत हुए शिशु के सदृश चन्द्रमा के भीतर कालिमा रूपी मृग को तुम अपने अङ्क में छिपा कर वहाँ से दूसरी ओर सुरक्षित स्थान में उसे ले जाने के प्रयास में नित्य ही इन्द्रधनुष रूपी उस पुल को पार किया करती हो जो ऐरावत गज के स्तम्भ रूपी दोनों दाँतों पर टिका रहता है। नभमण्डल के तारों के रूप में तुम्हारे हलके-हलके रखे चरणों के चिह्न ही तुम्हारे पीछे छूटे दिखलायी पड़ते हैं।)

इस प्रकार हे अप्सरे, तुम कभी स्वर्गलोक की थीं। (किन्तु) अब तो (तुम) भू-लोक की (ऐसी रमणीय) बाला हो (जिसे देखने को) विश्व के शैशव (अर्थात् जगत् के शिशुओं) के पलक रूपी प्रवाल आश्चर्य से अपलक (एकटक खुले रहते हैं।) तुम (ही) नवयुवतियों के सरोवर में सुन्दर हंसों को

चुगा कर (उन्हें) सुकुमार रोओं का हास्य और सिरछे देखना सिखलाती हो। (तात्पर्य यह कि तुम्हीं नवयुवतियों के रोम-रोम में यौवन-सूचक पुलक उत्पन्न करती और उनको कनखियों से देखने की वशीकरण विद्या की शिक्षा देती हो। युवतियाँ अपने रोम-रोम से उल्लास प्रकट करना और भ्रू-भङ्गिमा करना तुमसे ही सीखती हैं।) आज भी (घने वृक्षों की) छाँह के वन (अन्धकार अथवा छायावाद की कविता) में श्रेष्ठ कवि (गण) तुमको ढूँढते हैं। जिस समय रात के प्रहरी रूपी खद्योत (रात के अन्धकार में अपने प्रकाश रूपी दीपक को लिये हुए) जाग-जाग कर (पहरा दे चुकने के अनन्तर) सदा सबेरे सो जाते हैं (उस समय शान्त प्रभात वेला में) कंपित हो कर (जल की) लहर, (अपने पत्तों को) खड़खड़ा कर वृक्ष (एवं) चमक कर (तथा अकस्मात् विलीन हो कर अथवा) अज्ञात हो कर बिजली चुपके से और कवियों के बन्धु भ्रमर गुञ्जार करके आज भी (तुम्हारा) सङ्केत करते हैं। (अर्थात् भोर में, लहरों के कम्पन, वृक्षों के झूमने और बिजली के चमक कर लुप्त हो जाने तथा भृङ्गों के गूँजने में तुम्हारे अस्तित्व की सूचना कवि को मिलती है कि ये सब अप्सरा के स्पर्श के चिह्न हैं।)

हे तन्वङ्गि, गौर एवं श्याम वर्ण के जुड़वाँ (अर्थात् एक साथ उत्पन्न अथवा रहने वाले) बहन-भाई ज्योति और अन्धकार बैठ कर दिन-रात तुम्हारे लिए कोमल (और) चिकना छाया का आँचल (साड़ी) बुना करते हैं। सबेरे पहर (सरिता वा सरोवर की) चाँदी की (उज्ज्वल वर्ण की)

हिलकोरें (सूर्य की किरणों के) सोने के तार में (तुम्हारी) कञ्चुकी काढ़ती है—तुम्हारी सुन्दर कञ्चुकी में सुनहली कढ़ाई का काम करती हैं। तितलियाँ (अपने) सुन्दर रंगों के (मुलायम) रेशमी पंखों (के रूप के पंखों—व्यजनों) को झल कर (तुम्हारी) देह (के ताप) को शीतल करती हैं।

चन्द्रमा की किरण की तरह तुम ओस की बूँदों में चुपचाप (शान्तिपूर्वक) सोयी (रहती) हो। कली रूपिणी शय्या में (लेटी हुई) स्वप्न (दशा) में अपनी अद्वितीय शोभा को स्वयं देखती हो। (जल की) चञ्चल लहरों के द्वारा चलते-चलते स्पर्श किये गये मलय (पवन) रूपी (तुम्हारे) चरणों की सुकुमार गति कमलों (के सम्पुट में बन्द हो कर) सोते हुए भौंरों से नीरव वार्तालाप करती है। (अर्थात् लहरों के छूने से शीतल मलय की हवा ही तुम्हारे कोमल चरणों की हलकी और धीमी चाप है। वह प्रातःकाल कमल के फूलों को चूमती है—जैसे उनके भीतर सायंकाल से बन्द प्रसुप्त भ्रमरों से चुपचाप बात करती है।) नीले (और) रेशमी (चिकने, कोमल) अन्धकार रूपी सुकुमार (और) चञ्चल (लहराने वाला अपने) बालों का बोझ (अर्थात् घना केश-पाश) खोल कर, (तथा) चाँदी सा चमकीला (अथवा मोती सा उज्ज्वल) लहरों का (अथवा लहरिया) अञ्चल (और) स्वप्न (की दशा) में विचकित मनोहर स्तनों को (हवा के झोंके से) लहरा कर (हिला वा सुशोभित करके) दूध के फेन की सी (उज्ज्वल) शरद् ऋतु की चाँदनी में चन्द्रिका सी सुकुमार और चंद्रमा की किरणों सी लघु (छोटे) पदों

(चरणों) वाली तुम सरोवर में (अपने प्रियतम के साथ) विहार करती हो।

(तुम्हारी) मेंहदी से रची (चित्रित) कोमल हथेलियों की सुन्दरता से मनोहर हरसिंगार (उन्हीं के समान शुभ्र एवं रक्ताभ) फूला हुआ है। (तुम्हारे) गोरे शरीर की कान्ति हिम (से आच्छादित पर्वत की) चोटियों के ऊपर (अत्यन्त) उपकार के साथ (अर्थात् कृपापूर्वक) बरस रही है। (तुम्हारे) चरणों (के तलवों) की ललाई उषा (है तथा) चन्द्रमा की मुसकान वाला उभारदार बादल (अर्थात् वह उभरा, उठा हुआ बादल, जिसके भीतर से चन्द्रमा खिल रहा है, हर्ष से) रोमाञ्चित (तुम्हारा) पंख (है। यहाँ कवि 'अप्सरा' में 'परी' के पंखों का आरोप कर के उसे 'परी' के रूप में ग्रहण करता है।) तारों का झिलमिलाना (तुम्हारे) हृदय की कोमल-कोमल धड़कन (है। जल की) चञ्चल लहरें (तुम्हारे) चरणों की गति (हैं।)

एक दिन प्रभात में तुम संसार (रूपी सरोवर) में सैकड़ों मनोभाव रूपी खिली पंखुड़ियों से सुशोभित (सर्व) प्रथम सौन्दर्य के नवजात (सद्योत्पन्न) कमल के सदृश विकसित हुईं। (तुम्हारे माधुर्य-पराग से आकृष्ट हो कर) भौंरों के समान असंख्य सूर्य, चन्द्रमा (और अन्य) ग्रह अनजाने (किसी प्रकार का बोध हुए बिना ही अकस्मात् सहज ही) गुञ्जार करने लगे। (तुम्हारे सदृश अपूर्व कमल अपने भीतर खिला पा कर) विश्व रूपी सागर (आनन्द, उमङ्ग की) की लहरों से हिलोर गया— संसर के प्राणिमात्र में उमंग की तरंगे उठने लगीं। (समग्र)

दिशाओं में (प्रवहमान) पवन (पुष्प) गन्ध (के मद) से अन्धा (मतवाला हो कर धीरे धीरे बहने लगा ।)

तुम (अपने) असीम यौवन में सदैव विकसित (रूप से) चञ्चल (हिलते हुए) आँचल में भविष्यत् का (आनन्द और समृद्धि का सूचक) सुवर्ण-प्रभात फहरा कर जगत् (के प्राणिमात्र) की (एकाग्र दृष्टि से तुम्हें ही देखने वाली) एकटक पलकों के ऊपर सुनहले स्वप्न के सदृश उदित हुई थीं। तुम्हारे मुसकराते मुख में नये प्रकाश से चमकता हुआ नया दिन (प्रकट हुआ अर्थात् संसार के समस्त मानवों ने तुम्हारे अपरिमित यौवन से पूर्ण सौंदर्य की झलक अपनी आँखों के सामने उसी प्रकार देखी थी जिस प्रकार कोई बहुत ही मनोहर स्वप्न देखा जाता है। तुम्हारे फहराते हुए अञ्चल से आगे आने वाले सुख और उल्लास से पूर्ण प्रभात का आगमन होता है। इससे मानव जीवन में प्रसन्नता से परिपूर्ण नया दिवस आता है, जिसमें नयी ज्योति छा जाती है।)

(हे मेरी) सहेली (अर्थात् कवि की सङ्गिनी), (हे) रँगीली, मन के (अर्थात् कल्पना के) स्वर्ग के निवास में (अर्थात् कल्पना के द्वारा निर्मित स्वर्ग में रहती हुई तुम) सदैव आनन्द में विराजती हुई (निरन्तर सुख-मयी) अपने ही सौन्दर्य से अद्वितीय (तथा अपनी) इच्छा में (पूर्णतया) स्वतन्त्र तुम प्रत्येक युग में नये नये रूप धारण करके आया करती हो। हे देव, मानव, मुनि (सब) की अभिलषित अप्सरे, तुम तीनों लोकों में पूर्णतया समायी हुई हो। (तुम त्रिभुवन की सुन्दरता में व्याप्त

हो—सब लोकों का सौंदर्य तुम्हारी ही प्रतिमूर्ति है।)

(तुम्हारे) प्रत्येक अंग की नवीन सुन्दरता का (ही प्रतिरूप) सुकोमल नया वसन्त (है। तुम्हारा) भौंहों का तिरछा करना (हो मन में) नयी-नयी इच्छा रूपी भ्रमरों का गुञ्जन (है; उस नव वसन्त में) सैकड़ों माधुर्यपूर्ण इच्छाओं से भारी विशाल हृदय धड़कता है। (हृदय में अनेक मधुर कामनाएँ उठ रही हैं। तुम्हारा) लघु चरण-सञ्चरण नयी आशाओं की कोमल कलियों के द्वारा चुम्बित होता है—तुम्हारे लघु चरणों की चाल को नयी आशा की कोमल कलियाँ चूमती हैं।

सम्पूर्ण संसार (के प्राणियों) ने अपने सम्मान, महत्त्व (और) सौन्दर्य को दे कर अपने एकाग्र हृदय की (अभिलषित मनोहर कल्पनाओं वा) स्वप्नों के द्वारा (तुम्हारी) मूर्ति रच कर, (उसको) क्षण-क्षण के आश्चर्य (एवं) प्रत्येक दिशा (सब ओर) की असाधारण बुद्धि-शक्ति का वस्त्र पहना कर तुमको अज्ञात कल्पना और रहस्य (गुप्त तत्त्व) के भीतर (जगत् की) आँख से ओझल कर दिया है।

हे अप्सरे, तुम विश्व के (मानवों के) आनन्द और विषाद, पातक तथा यातना (अथवा कष्ट), वासना (वा लालच एवं) जलन से विहीन (और) बुढ़ापे, जन्म, भय (एवं) मृत्यु से रहित, (चिरन्तन) यौवनवती, (और) सदैव नयी (बनी रहने वाली), संसार के सौन्दर्य के बहुत ही गहरे समुद्र में डूबी हुई जीवन की मछली (रूपिणी, आँख से) दिखलाई न पड़ने (और हाथ से) छुई न जा सकने वाली हो और अपने ही आनन्द में

डूबी रहती हो—तुम्हें विश्व के जीवन से कोई प्रयोजन नहीं।

दोष—'जगती के अनिमिष पलकों पर' में पलकों का प्रयोग पुंल्लिंग में होने से व्याकरण विरुद्ध दोष है। 'प्रेयसि के प्रत्यंग-अंग में' प्रत्यंग-अंग (प्रति अंग-अंग) का प्रयोग सदोष है। 'अंग-अंग में' अथवा 'प्रति अंग में' शुद्ध प्रयोग है किन्तु 'प्रति अंग-अंग' में या तो 'प्रति' निरर्थक है अथवा 'अंग।' 'मण्डित एक प्रभात' में 'एक प्रभात' अँगरेजी के 'वन मौर्निङ्ग' का शब्दान्तरमात्र है और हिन्दी के प्रयोग के विरुद्ध है। हिन्दी का शुद्ध प्रयोग है—'एक दिन प्रभात में।' 'निखिल कल्पना मयि अयि अप्सरि' में 'अप्सरि' का सम्बोधनकारक में प्रयोग सदोष है।

अलङ्कार—'गौर-श्याम तन, बैठ प्रभा-तम, भगिनी-भ्रात सजात' में यथासंख्य या क्रम है। 'लहरा लहरांचल' में भङ्गपद यमक है। रूपक और उपमा तो इस कविता को सौन्दर्य प्रदान करने के एक मात्र साधन है। इसमें परम्परित और साङ्ग दोनों प्रकार के रूपकों का प्रचुर प्रयोग हुआ है।

नौका-विहार

[४३] शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल!

शब्दार्थ—**स्निग्ध**=तैलाक्त, चिकनी, चमकदार, शीतल। **सैकत-शय्या**=बालु रूपी सेज। **ग्रीष्म-विरल**=गरमी के कारण क्षीण, पतली धारा वाली, सुकुमार। **कुन्तल**=शिर के बाल, केश। **तार**=चांदी, तारा। **तरल**=चमकीला। **नीलाम्बर**=नीला आकाश। **वर्तुल**=वृत्ताकार, गोल। **मन्थर**=धीमी चाल से, धीमी-धीमी। **निर्भर**=पूर्ण। **प्रमन**=प्रसन्न। **झल-मल**=हलका या सूक्ष्म प्रकाश जो अँधेरे में रह-रह कर होता है, झल-झल, चमक। **तिर्यक्**=तिरछा, टेढ़ा। **मुग्धा**=वह युवती जिसको यौवन के कारण अपने शरीर में होने वाले परिवर्तनों का बोध न हो

पाया हो और जो अपने भोलेभाले सरल कार्यों में मोहित-सी हो। **कगार**=नदी तट की बहुत ऊँची भूमि; करारा। **प्रतीप**=उलटा विपरीत, पीछे की ओर। **कोक, कोकी**=चकवा, चकई। कुछ रक्ताभ पंखों के ये सुन्दर पक्षी रह-रह कर करुणोत्पादक तीखे स्वर में नदी तट पर रात के सन्नाटे को चीरते हुए बोला करते हैं। कवि समय है कि ये नर-नारी खग दिन भर तो साथ रहते हैं, किन्तु साँझ होते ही अलग हो जाते हैं—दोनों नदी के दोनों तटों में बैठे रात भर विरह में तड़पते हुए एक-दूसरे को पुकारा करते हैं। **प्रतनु**=बहुत क्षीण। **प्रतनु-भार**=बहुत हलके परिमाण की, हलकी। **स्फार**=अत्यधिक। **तार-हार**=चाँदी की माला। **रलमल**=मिलजुल कर, एकत्र हो कर। **तरल**=हिलता-डोलता, चञ्चल, अस्थिर। **झिलमिल**=हिलता हुआ प्रकाश।

सङ्केत—जिन दिनों कवि उत्तर-प्रदेश के प्रतापगढ़ जिले के अन्तर्गत कालाकाँकर राज्य में कुँवर सुरेशसिंह के अतिथि थे उन्हीं दिनों की स्मृति इस कविता में अङ्कित है। वह स्थान गङ्गा के तट पर है। ग्रीष्म-काल था। गङ्गा की धारा अत्यन्त क्षीण हो गयी थी। उसमें जल भी कम था। बीच-बीच में बालू के टापू बन गये थे। दशमी की चाँदनी रात थी। कवि ने एक हलकी नाव पर जल-विहार किया। उस समय उसने जो कुछ देखा और सोचा था उसका चित्र इस सुन्दर कविता में उतार दिया है।

व्याख्या—शान्त (निष्पन्द और चुपचाप वातावरण में) चमचमाती (शीतल वा चिकनी) शुभ्र चन्द्रिका (फैली हुई है।) आकाश निर्निमेष (स्तब्ध, शान्त) है (उस पर किसी प्रकार का शब्द नहीं होता।) पृथ्वी पर भी (एकदम) सन्नाटा (छाया) है। (किसी प्रकार की ध्वनि नहीं सुनायी पड़ती। अर्थात् सर्वत्र स्तब्धता है—पूर्ण शान्ति विराज रही है।)

दूध की सी उजली, गरमी के कारण क्षीणधार (सुकुमारी)

पतली देह (धारा) वाली गङ्गा (अपने तट की उज्ज्वल वर्ण की) बालू रूपिणी सेज पर (दिन भर बहती-बहती अब श्रम से) थकी, मुरझायी और स्थिर (चुपचाप) पड़ी (सो रही) हैं। (अर्थात् उनकी पतली धारा का बहुत ही मन्द प्रवाह ऐसा जान पड़ता है कि रुक सा गया है।)

तपस्विनी नारी रूपिणी (क्षीण देह और) स्वच्छ (शुभ्रतन) गङ्गा का कोमल हथेली रूपी तल (पानी के नीचे की भूमि, अपने ऊपर रखे हुए अपने भीतर पड़ने वाले) चन्द्रमा (के प्रतिबिम्ब) रूपी (अपने) मुँह से चमक रहा है। (जैसे सोते समय दुबली-पतली तपस्विनी हथेली पर अपना मुख रख कर सो रही हो ऐसी हैं ग्रीष्म-विरल गङ्गा, जिनके कर रूपी तल में पड़ रहा चन्द्रमा का बिम्ब उनका मुख है। उनके) वक्ष-स्थल पर (लहरों के रूप में उनके) कोमल कुन्तल (केश, शिर के खुले हुए बाल फैले) लहरा रहे हैं—झोंके ले रहे हैं, सुशोभित हो रहे हैं। [यदि 'लहरे' के स्थान पर 'लहरें' (लहर का बहुवचन) पढ़ा जाय तो इसका अर्थ होगा—गंगा की लहरें तापस बाला के उर पर फैले हुए कोमल कुंतल हैं।] (तप करते-करते पीताभ देह तपस्विनी गङ्गा के) गौर (शरीर) के अंगों (अर्थात् उज्ज्वल जल) के ऊपर (चमकते हुए तारों से युक्त) नीला आकाश (रूपी नीला वस्त्र मन्द मन्द हवा से) काँपता-काँपता चाँदी (के बूटों वा सितारों से जड़े शुभ्र और) चमकीले मनोहर आँचल की तरह लहरा (उड़) रहा है, जिस (गङ्गा-जल में पड़ने वाली आकाश की छाया रूपी नीले वस्त्र) के ऊपर साड़ी के बल

(शिकन) की नाईं चन्द्रमा की (महीन, चमकीली, कोमल) रेशम की सी कान्ति (वाली चन्द्रिका) से ओत-प्रोत वृत्ताकार कोमल लहरें सिकुड़ी हैं। (अर्थात् जैसे साड़ी की सिकुड़न होती है वैसी ही आकृति ज्योत्स्ना से चमकती उन आड़ी-तिरछी गोल लहरों की बन रही है जो आकाश के प्रतिबिम्ब को छूती हुई उठ रही हैं।)

(ऐसी शान्त और मनोहर) चाँदनी (छिटकी) रात के पहले पहर में हम नाव पर बैठ कर (उसे) जल्दी-जल्दी (खेते हुए जल-विहार करने के लिए) निकले। (गङ्गा की श्वेत चमकती हुई) बालू की मुसकराती (अधखुली) सीप पर मोती रूपी (उज्ज्वल) चाँदनी (धीरे-धीरे) विचरण कर रही है (अर्थात् पड़ रही है।)

(अब) लो, (नाव को लग्गी या डाँड़ों से खेना बन्द करके हवा के दबाव से स्वतः चलने देने के लिए) पाल खोल दिये गये, (उसको जल में एक ही स्थान पर स्थिर रखने वाला) काँटा (वा लंगर पानी से) खींच (कर नाव पर रख) लिया गया।

(अब गंगा-जल पर शुभ्र वर्ण) हंसिनी के सदृश (अपने श्वेत वस्त्र के बने) पाल रूपी पंखों को फैला कर (वह) छोटी नाव सुकुमारता के साथ (बहुत) धीरे-धीरे, (हवा के झोंकों से) झूमती-झामती तैर रही है। (उस समय अपना प्रवाह रोके हुए से) स्थिर (गङ्गा के) जल रूपी स्वच्छ (निर्मल, साफ) दर्पण (शीशे) पर (नदी की सफेद बालू रूपी) चाँदी के (दोनों) किनारे (अपनी) पूर्ण (पूरी) परछाईं डालते हुए

थोड़े समय के लिए दोहरे जान पड़ते हैं। (ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों तट दोहरे हो गये हैं, जितने वे जल के ऊपर हैं उतनी ही उनकी परछांई जल के भीतर पड़ती है। तटों और उनकी परछाइयों को मिला कर उनकी ऊँचाई दुगनी हो गयी। और यह व्यापार क्षण भर के लिए इसलिए होता है कि क्षण भर ही तो जल निश्चल रहता है। उस स्तब्ध प्रतीत होने वाले शान्त गङ्गा-) जल में कालाकाँकर का राज-भवन (प्रति-बिम्बित हो) चिन्ता-रहित (व्यक्ति के सदृश स्थिर दशा में और) प्रसन्न (मुद्रा में अपने सौन्दर्य के पूर्ण विकसित रूप से युक्त शान्त) सोया हुआ है। (सोते समय जैसे वह अपनी) पलकों पर (अपने राजसी) ऐश्वर्य का गहरा (गम्भीर) स्वप्न (देख रहा है। उस समय उसकी पलकें बन्द हैं, वे हिलती-डुलती नहीं और उस भवन का प्रतिबिम्ब स्थिर है, पानी के शान्त रहने के कारण हिलता-डुलता जैसा नहीं दिखलायी पड़ता।)

(इस प्रकार हम आगे बढ़े।) नाव के चलने से (गङ्गा के) जल की लहरें उठती हैं। उनके धक्के से (पानी के भीतर प्रति-बिम्बित) आकाश के आदि अन्त (सभी) हिलने लगते हैं। (जल के भीतर का समस्त आकाश काँपने लगता है। जैसे उसके सम्पूर्ण अन्तस्तल में हलचल मच जाती है।) गगन का अभ्यन्तर (अपनी प्रभा से) प्रकाशमान करने वाले (गङ्गा के उक्त चञ्चल जल के भीतर) चपल (हिलते हुए) तारों के झुण्ड (अपनी) एकटक आँखें फाड़-फाड़ कर (अपना कुछ खोया हुआ प्राप्य) ढूँढ रहे हैं, जिन (तारों) के (प्रतिबिम्ब

रूपी) चञ्चल (हिलते हुए) दीपकों को (अपने) आँचल (छोर) की आड़ में किये (छिपाये) हुए (जिससे उनका मुख दीप-ज्योति मे दिखलायी न पड़ जाय) लहरें एक-दूसरे से सटी हुई क्षण-क्षण लुकती-छिपती फिर (चक्कर लगा) रही हैं। (तात्पर्य यह कि आकाश को अपनी ज्योति से प्रकाशित करते हुए तारे जगमगा रहे है। उनका प्रतिबिम्ब गङ्गा के चञ्चल जल में पड़ कर हिल-डुल रहा है। उस प्रतिबिम्ब को एक पर एक उठती हुई लोल लहरें छिपाने की चेष्टा करती हैं। इस सामान्य प्राकृतिक व्यापार में कवि कल्पना से मानव-भाव आरोपित करता है कि तारे वीचि-सुन्दरियों का मुँह देखने को एकाग्र दृष्टि से ताक रहे हैं और वे उनकी आँखों से बचने के लिए एक-दूसरे से हिल-मिल निरन्तर भागती रहती हैं। अब नाव पर बैठा कवि तारों की समष्टि से अपनी चलती दृष्टि हटा कर उन सब में अधिक चमकदार तारे को देख कर कहता है कि) सामने शुक्र नक्षत्र की रह-रह कर चमकती हुई (झलझलाती) परछाईं (अपने) रूपे (चाँदी) के (शुभ्र) बालों (के सदृश शुभ्र चमकीली लहरों) में छिप कर (अपने को छिपाये हुए गङ्गा के) मनोहर जल में (बहिश्त की किसी सुन्दरी) परी की तरह तैर रही है। (तरंगित जल में उठती गिरती शुक्र की परछाईं तैरती हुई परी है। जल की लहरें उसको आँखों से छिपाये रहती हैं—जैसे तैरती परी की देह उसके रुपहले बालों से ढक जाने के कारण दिखलायी नहीं पड़ती। उस समय गङ्गा में प्रतिबिम्बित) दशमी का चाँद (किसी

सुन्दरी के समान) लहर रूपी घूँघट के भीतर से झुक-झुक कर अपना तिरछा मुँह मुग्धा (युवती) की भाँति रुक-रुक कर दिखलाता है। (तात्पर्य यह कि दशमी के चन्द्र की छाया पानी में पड़ती है। वह छाया उठती-गिरती लहरों के भीतर से बार-बार उठ-उठ कर दिखलायी पड़ जाती है। जैसे चाँद कोई नवोढा मुग्धा भोली-भाली बाला है। वह अपनी उँगलियों से घूँघट बन्द करके, केवल थोड़ा-सा भाग खोल कर उसके भीतर से झाँकती है। इससे उसके मुँह का कुछ अंश ही तिरछा-सा दिखलायी पड़ जाता है। ऐसा वह बार-बार करती है। जिससे रह-रह कर (थोड़ी-थोड़ी देर में) उस मुख का कुछ भाग दीख जाता है।)

(इस प्रकार प्रकृति की सुषमा में रमणी की सुन्दरता की विविध झाँकियाँ दिखलाती, पाल में बँधी हवा की तेजी से बहती हुई वह) चञ्चला (नाव) अब (गंगा की) धार के बीचोबीच (जा) पहुँची। (वहाँ से देखने पर तट के समीप से दिखलायी पड़ने वाला) ज्योत्स्ना का (ऊँचा) करारा (आँखों से) ओझल हो गया। (अब ऐसा जान पड़ता कि) दो भुजाओं के सदृश (नदी के दोनों) दूरवर्ती किनारे (गङ्गा की पतली धारा का क्षीण (और) सुकुमार शरीर (अपने) गले से लगा लेने के लिए छट-पटा रहे हैं। (अर्थात् पतली धारा के दोनों ओर के किनारे दूर पर आपस में मिले हुए से दिखलायी पड़ते थे। जैसे वे क्षीण धारा को भेंट कर अपने भीतर समेट लेने के लिए आकुल हों।)

(वहाँ से) बहुत दूर, क्षितिज के ऊपर (हरित)

वृक्ष-राजि (उसके एक ओर से दूसरे छोर तक खिंची हुई) भौंह की रेखा की तरह तिरछी जान पड़ती है। नीली आँखों का विशाल आकाश (अपनी पलकें खोले, एकटक) निर्निमेष (शान्त और स्तब्ध है। अर्थात् नीले गगन में पूरी स्तब्धता है। उसकी नीलिमा ही नीली कजरारी आँख है। वह कुछ, झुकी हुई यह दृश्य देख रही है। ऐसा प्रतीत होता है।)

(कुछ) पास (ही गङ्गा की) धारा (रूपिणी गोद) में (अपनी) माँ की छाती पर (लिपट कर लेटे हुए) बच्चे के सदृश एक द्वीप (उस धारा के) लहराते (उठती हुई लहरों से युक्त) बहाव को (जिधर से धारा आ रही थी उधर को ही) उलटा कर के सोया (है—शान्त पड़ा है।)

(अरे देखो तो।) वह कौन पक्षी है ? क्या (रात में अपनी प्रेयसी चकई से बिछुड़ा उसके वियोग के कारण) व्याकुल चकवा (जल में पड़ती हुई अपनी ही अथवा दूसरे किनारे बैठ कर रोती चकई की) परछाईं को देख (चकई से मिल कर) अपना वियोग (-जनित) दुःख दूर करने के लिए उड़ता (है ?)

(अब कवि ने आगे बढ़ने का विचार छोड़ दिया। उसके आदेश से पाल उतार लिया गया। नाव का मुँह मोड़ने के लिए नाविक के द्वारा) कर्ण घूमा (अर्थात् घुमाया गया।) अब हलके भार (बोझ) की (अर्थात् हलकी) नाव (गङ्गा की) धारा के विपरीत (अर्थात् बहाव के उलटे) मुड़ी (तात्पर्य यह कि जिधर से आयी थी उधर को ही लौट पड़ी। उलटी धारा की ओर खेने

के लिए डाँड़ों का प्रयोग होने लगा। मल्लाहों के द्वारा जल्दी-जल्दी चलाये गये) डाँडों के (चौड़े फलकों के) रूप की (अपनी) हथेलियों को फैला (-फैला) कर (वह नाव उन हथेलियों में गङ्गा के श्वेत जल के) बहुत से (शुभ्र) फेन (के कण) रूपी बड़े-बड़े मोती (बार-बार) भर-भर कर जल में मोती (अथवा चाँदी) की (उज्ज्वल) मालाएँ छितराती (थी। उस समय चन्द्रमा की उजली और हिलती) किरणें (नाव के धक्के से गङ्गा के) चञ्चल पानी में हिलती-डोलती अथवा अस्थिर वा क्षणभंगुर तथा सरल रेखाओं की सी खिंच कर चाँदी के (वक्र गति) साँपों की भाँति मिल-जुल कर नाच रही थीं। (उस चंचल, हिल्लोलित पानी में प्रतिबिम्बत) सैकड़ों चन्द्रमा और सैकड़ों प्रकम्पित (या हिलते काँपते) तारे (गङ्गा की) लहरों के रूप की लताओं में (श्वेत पुष्पों के सदृश) खिल कर (प्रफुल्ल हो कर, हँसते हुए) फेन युक्त (फेन उठ रहे) जल में फूले (हुए, फैल रहे) हैं। (गङ्गा की लहरें लताएँ हैं। नाव के वेग से चलने के कारण उसके और डाँड़ों के धक्कों से उठी लहरें दूर-दूर तक उठ रही हैं। मानो लताएँ फैल रही हैं। लहरों में चन्द्रमा और अनेक तारों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है । उनके जल्दी-जल्दी उठने गिरने, बहने आदि के कारण वे प्रतिबिम्ब उन असंख्य लहरों पर अलग-अलग भी दीपित हो रहे हैं । इस प्रकार जान पड़ता है जैसे सैकड़ों चन्द्र और हजारों तारे हैं । वही अगणित श्वेत पुष्प हैं जो लहर-रूपी लतिकाओं पर खिल कर, विकसित हो कर, सर्वत्र फैले हैं।)

(इस प्रकार गहरे पानी में डाँड़ों के द्वारा चलायी गयी द्रुतगामिनी नौका कुछ काल के अनन्तर गङ्गा) नदी की उथली धारा (में आ पहुँची। इसलिए डाँड़ उठा कर नाव पर रख लिये गये। और बाँस की छोटी) लग्गी से सरलतापूर्वक (वा आसानी से केवट के द्वारा पानी की गहराई की) थाह ले-ले कर (वा लेते हुए) हम (नौका-विहार के असीम आनन्द के कारण मन में) उमङ्ग भरे हुए घाट की ओर बढ़े (जहाँ उतरने के लिए नाव लगने को थी।)

(अब कवि ने प्रकृति के उस रम्य दृश्य के आनन्द की समाप्ति का अवसर निकट आते देख उसके चित्रण से अपनी तूलिका को विरत कर दिया। उसका कल्पनाशील मन चिन्तनशील हो गया। वह दार्शनिक बन कर जीवन के गम्भीर तत्त्वों का निरूपण करता हुआ बोला कि) जैसे-जैसे नौका (नदी के) किनारे पहुँचती (जाती) है (वैसे वैसे मेरे) मन में सैकड़ों (दूसरे ही) विचार प्रकाशित (होते हैं। मैं सोचता हूँ कि गङ्गा की) इस धारा के सदृश ही जगत् (के कार्यों) की योजना (भी है। उसमें सरिता के जीवन—जल—की तरह) इस (मानव) जीवन का उद्भव-स्थल चिरन्तन है। (सदा से है और सदा बना रहेगा। उसका) प्रवाह (तार, सिलसिला भी) नित्य है। (वह कभी नहीं टूटता वा समाप्त होता। निरन्तर चलता रहता है। साथ ही जैसे गङ्गा के जल का असीम समुद्र से मिलन नित्य ही होता रहता है वैसे ही मानव के जीवन का अनन्त ब्रह्म से) समागम (सम्मिलन भी) नित्य रहे, मनुष्य का जीवन सदैव ब्रह्मलीन रहता है अथवा रहेगा।)

आकाश का (यह) नील (वर्ण का) आलोक नित्य (सदैव ही है। उसमें तथा भू-मण्डल में आज फैली हुई) यह चन्द्रमा की चाँदी की (सी शुभ्र) खिलखिलाहट (चाँदनी, भी) नित्य (है। यह भी कभी नहीं मिटती। और आज इस समय मेरी आँखों के सम्मुख उठने वाली गङ्गा की) इन छोटी (-छोटी) लहरों की (आनन्द-) क्रीडा (भी) चिरस्थायी (है। यह वीचि-विलास निरन्तर हो रहा है और ऐसे ही होता भी रहेगा।)

(अब कवि का विचार और ऊँचे उठता है। आज की रात अभी उसने कर्णधार के द्वारा सञ्चालित नाव के द्वारा गङ्गा में विहार किया था। उसी सादृश्य से वह जीवन का आनन्द प्रदान करने वाले शाश्वत परम शक्ति-सम्पन्न की ओर उन्मुख हो कर उसे सम्बोधित करते हुए कहता है कि) हे (इस) जगत् (के प्राणिमात्र) के जीवन के सञ्चालक, (जग-नौका पर चढ़ा कर भवसागर को पार कराने वाले माँझी, तुम्हारे द्वारा परिचालित वा व्यवस्थित संसार में) जीवन रूपी नाव पर किया जाने वाला विहार (जीव के) निरन्तर जन्म (और) मृत्यु के आरम्भ से अन्त तक (भी) नित्य है। (अर्थात् जीव जो अबाधगति से जन्म और मरण के चक्कर में चलता रहता है वह भी चिरन्तन है। कभी बन्द नहीं होता। कवि आगे कहता है कि ऐसा सोचते सोचते) मैं अपनी सत्ता (विद्यमानता) का बोध (ही) गँवा बैठा। (मैं इसी विचार-धारा में बह गया। मुझे अपनेपन का ध्यान ही नहीं रह गया।)

(इस प्रकार मानव के) जीवन की चिरन्तनता (नित्यता)

की यह सत्यता मुझको अमरता प्रदान करती है। (अर्थात् निरन्तर आवागमन होते रहने पर भी जीवन का क्रम कभी नहीं टूटता, सदैव चलता रहता है और इस प्रकार जीव अमर है—इस विचार के आने पर मैं अपने विषय में निर्धारित करता हूँ कि मैं भी अमर हूँ, मेरे जीवन का तार भी नित्य है।)

दोष—छिद्रान्वेषण के लिए नहीं किन्तु इस प्रसिद्ध कवि को प्रमाण मान कर भाषा के रूप को मनमाने ढंग से विकृत करने के अनर्थ से बचने के लिए इस चित्रमयी सरस कविता में भी जो विकार आ गया है उसको इङ्गित करना पड़ता है, जिससे शब्द का शुद्ध और प्रयोग-सम्मत रूप ही सार्वजनीन व्यवहार में आये।

'तापस-बाला गंगा निर्मल शशि-मुख से दीपित मृदु-करतल, लहरे उर पर कोमल कुन्तल।'—इसमें सुन्दर परम्परित रूपक की पूर्णता लाने के लिए 'कोमल कुन्तल' के उपमेय का अध्याहार करना होगा। इससे यहाँ न्यूनपदत्व दोष है। 'लहरे उर पर कोमल कुन्तल' में 'लहराना' क्रिया का 'लहरे' रूप खड़ी बोली के नियम के अनुसार ठीक नहीं। यह व्याकरण विरुद्ध प्रयोग दोषपूर्ण है। (यदि 'लहरे' के स्थान पर 'लहरें' पढ़ा जाय तो ये दोनों दोष न रहेंगे।) 'सिमटी हैं वर्तुल मृदुल लहर' तथा 'नौका से उठतीं जल-हिलोर' में लहर के स्थान पर 'लहरें' और 'हिलोर' के स्थान पर 'हिलोरें' होना चाहिये। यहां च्युतसंस्कृत दोष है। फिर 'नौका से उठतीं जल-हिलोर' में 'जल' निष्प्रयोजन है। इसके बिना भी 'नौका से उठतीं हिलोरें' ही सार्थक वाक्य बन सकता था। अतः इस स्थल में 'अधिकपदत्व दोष' है। 'लहरों के घूँघट से झुक-झुक दशमी का शशि निज तिर्यक् मुख दिखलाता, मुग्धा सा' में शशि को 'दिखलाता' क्रिया के द्वारा कवि ने पुरुष के रूप में स्वीकार कर के भी मुग्धा का उपमेय बनाया है। पुरुष उपमेय और नारी उपमान! यह उपमा सदोष मानी जायगी। 'लो पालें चढ़ीं' में पुंल्लिंग शब्द पाल का प्रयोग स्त्रीलिंग

में किया गया है। ऐसे ही, 'पतवार घुमा' में स्त्रीलिंगवाचक पतवार को पुंल्लिंग बनाया गया है। (हाँ—यदि इस अंश का अन्वय 'अब प्रतनु-भार नौका पतवार घुमा (कर) विपरीत धार घूमी' किया जाय तो यह दोष न रह रहेगा। (किन्तु ऐसा करने से भी 'पतवार घुमा' के बाद अल्प विराम (,) का जो चिह्न पतवार के घूमने के द्वारा व्यापार-विशेष की पूर्णता सूचित करता है वह निरर्थक हो जायगा।) यहाँ 'घूमा' को 'घुमा' बनाना भी प्रयोग के विरुद्ध है। अतः इसमें च्युतसंस्कृत दोष है। 'चाँदी के साँपों-सी रलमल नाँचतीं रश्मियाँ जल में चल रेखाओं-सी खिंच तरल-सरल।' इसमें 'साँपों-सी 'रेखाओं सी' का पूरा रूप होगा—'साँपों की सी'। 'रेखाओं की सी' यहाँ 'का' विभक्ति का लोप किस व्याकरण के किस नियम के अनुसार किया है? इसमें न्यूनपदत्व दोष है।

अलङ्कार—परम्परित रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, पुनरुक्तिप्रकाश, अनुप्रास। चाँदी के साँपों सी·····तरल सरल' में भिन्नधर्मा मालोपमा।

[४४] (क)—तेरा कैसा गान,

शब्दार्थ—विहंगम=पक्षी। यहाँ कवि ने इस शब्द के द्वारा अपने प्रति सङ्केत किया है। **नीति-विज्ञान**=वह शास्त्र जिसमें देश, काल और पात्र का ध्यान रख कर सब के आचरण करने के नियम रहते हैं। आचार-शास्त्र, धर्मशास्त्र। **शकुनि नादान**=हे अज्ञान पक्षी (कवि)। **गीत-खग**=गीत (गाने वाला) पक्षी, गीत-रचयिता कवि। **छाया-तरु**=अन्धकार से पूर्ण वृक्ष, अथवा सप्तपर्ण वा छतिवन नामक पेड़। **जग के हास-अश्रु**=संसार के मानवों के सुख-दुःख। **दुस्तर**=जिसको पार करना कठिन हो, असाध्य। **गूढ़**=रहस्यमय, जिसका आशय समझना कठिन हो। **ग्रथित**=ग्रस्त, अधिकृत, आवृत। **शून्य-उड़ान**=शून्य में भरी गयी निरर्थक, वा व्यर्थ उड़ान, निरर्थक कल्पनाओं से पूर्ण कविता। **वन्य**=वन के, प्रकृति के, जङ्गली। **विजन-नीड**=एकान्त में बना घोंसला। **विजन-नीड के गान**=

एकान्त घोंसले में बैठ कर चहचहाना, जन-समाज के सम्पर्क से दूर, अपने ही मन में मग्न, कविता, ऐसी कविता जिसका सम्बन्ध मानव मात्र से न हो, और जो केवल व्यक्तिगत भावों में डूबी हो।

(ख)—मेरा कैसा गान,

शब्दार्थ—**मुकुल**=कली, प्राण। **मुग्धमुकुल**=मोहित कली के सदृश मोहित प्राण। **गन्धोच्छ्वास**=सुगन्ध रूपी उच्छ्वास। **लुढ़कता**=लुंठित होता, लोटता। **पुलकावलि**=हर्ष के कारण खड़ी रोमावली।

सङ्केत—गुञ्जन की प्रतिनिधि कविताओं की रचना १९३२ में हुई है। इसके पूर्व के रचे गीतों की विचार-धारा उनकी सी ही है। अतः वे भी गुञ्जन की मुख्य भाव-धारा को व्यक्त करनेवाली रचनाओं से मेल खाते हैं। कवि की पल्लव, वीणा आदि में सङ्कलित कविताओं की तत्कालीन समीक्षकों की आलोचना की बातें (क) के दो गीतों में तथा उनके उत्तर (ख) के दो गीतों में हैं। इन गीतों का इस संग्रह में इसी कारण औचित्य प्रतीत होता है कि इनमें गुञ्जन के प्रमुख गीतों में अभिव्यक्त विचारों के उदय का सङ्केत मिलता है।

कवि ने अपनी आरम्भकालीन रचनाओं के द्वारा उस समय के साहित्य-समाज में खलबली मचा दी थी। आगे चल कर जो कविता छायावाद के अन्तर्गत ग्रहण की गयी वह पहले-पहल लोगों की समझ में भी नहीं आयी। उसमें प्रतीकात्मकता अधिक थी। उसकी शब्दावलि में लाक्षणिकता भी थी। उसके चित्र ऐसे स्पष्ट नहीं थे कि उनका पूरा बोध तुरन्त ही हो जाय। उनमें कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियों और कल्पनाओं की इतनी प्रचुरता थी कि उन सब के रहस्य को जाने बिना पाठक उनका ठीक-ठीक तात्पर्य न समझ अटकल से उनका अर्थ लगाने के लिए विवश होता था। उनमें कवि अपने ही दुःख-सुख का राग अलापता था। मानव समाज की व्यापक स्थिति, अनुभूति आदि से दूर हट कर निजी

भावनाओं में मस्त झूमता रहता था। इन सब कारणों से कवि पन्त पूर्वकालीन एवं प्रचलित काव्य-प्रणाली और गृहीत एवं मान्य उपादानों से विमुख समझे गये। उनकी बड़ी ही तीव्र, कटु और कभी कभी भद्दी आलोचना हुई। परिणामस्वरूप उन्होंने अपनी धारणा और मान्यता को स्पष्ट करना आवश्यक समझा। यहाँ पहले दो गीतों में कवि ने अपने आलोचकों, निन्दकों आदि के विचार प्रकट किये हैं और आगे के (ख) अंश के दो गीतों में उन विचारों का खोखलापन दिखलाते हुए अपने अपनाये हुए काव्य-पथ पर चलते रहने की घोषणा की है। साथ ही यह भी सूचित किया है कि मेरे गीत सबसे अलग रहने की बात नहीं सुनाते, अपितु सब में समाये हुए उल्लास को सूचित करते हैं।

व्याख्या—क—(कवि ने नये ढङ्ग से रचना आरम्भ की थी। नयी शब्दावलि का प्रयोग किया था। परम्परागत विषयों को छोड़ कर नये उपादानों को ग्रहण किया। इससे उसकी कविता को बहुत से लोग समझ न सके। उन्होंने अपनी इस कमी का अनुभव न करके कवि को ही त्रुटिपूर्ण घोषित करते हुए कहना आरम्भ किया कि) तेरा (यह कविताओं का) गाना कैसा है ? (हे कवि रूपी) पक्षी, तेरा यह गान कैसा है ? (इसको सुनने से तो यह स्पष्ट विदित होता है कि तूने किसी विद्वान्) शिक्षक (के पास रह कर) न तो (चार) वेद, (अठारह) पुराण (और सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा पूर्व और उत्तर मीमांसा—ये) छः दर्शन (शास्त्र) पढ़े हैं और न आचारशास्त्र ('एथिक्स' का ही ज्ञान प्राप्त किया है। अर्थात् तेरी कविता में परम्परा से प्राप्त शास्त्रीय ज्ञान का अभाव है और उसमें नीति एवं आचार-सम्बन्धी अब तक की मान्यताओं की अवहेलना

देखी जाती है। वह प्रचलित परम्पराओं से पूर्णतया अलग है।) तुझको भाषा (के शुद्ध रूप से प्रयोग करने तक) का बोध (नहीं। तेरी भाषा व्याकरण-सम्मत नहीं। उसमें अनेक ऐसे शब्द और प्रयोग हैं जिन्हें व्याकरण के अनुसार अशुद्ध माना जाता है।) (क्या तुझे) काव्य (के वास्तविक रूप, उसके लिए काव्य-शास्त्र के द्वारा अङ्गीकृत सिद्धान्तों के अनुसार) रस (और पिङ्गल के अन्तर्गत माने गये नियमों के आधार पर बने) छन्दों की परख (है ? अर्थात् तुझे परम्परागत पुरातन शास्त्र से परिचय नहीं है, इससे तेरी रचना शास्त्र-सम्मत नहीं मानी जा सकती। उसमें नैतिकता भी नहीं है। इससे वह लोक-मर्यादा का उल्लङ्घन करके अनाचार को प्रेरित करती है। उसमें काव्य-शास्त्र, रसशास्त्र एवं छन्दःशास्त्र के विचार से ही दोष नहीं, अपितु भाषा सम्बन्धी सामान्य ज्ञान का अभाव है। अतएव हे नवयुवक कवि तू अपनी) कोकिल (की-सी मधुर ध्वनि रूपिणी शब्दावलि से परिपूर्ण) प्रतिभा (अर्थात् क्षण-क्षण में नयी-नयी सूझ उत्पन्न करने वाली दैवी शक्ति) का गर्व न कर। (केवल मधुर रचना करने में समर्थ और प्रतिभा-सम्पन्न होने से कवि-कर्म की योग्यता नहीं मानी जा सकती। कवि के लिए यही यथेष्ट नहीं कि उसमें प्रतिभा हो और मधुर पदावली के द्वारा अपने विचार और भाव प्रकट करने की क्षमता हो। इसके अतिरिक्त, उसके लिए शास्त्र-ज्ञान, अध्ययन, काव्य-शास्त्र का बोध एवं भाषा का सम्यक् ज्ञान भी आवश्यक है। अतएव हे) भोले (अबोध वा मूर्ख कवि रूपी) विहग, (तू कुछ) मनन

कर, चिन्तन कर। (पहले कुछ काल तक भलीभाँति समझ कर अध्ययन और विचार कर, तब कविता करने में हाथ लगा।)

(कवि की छायावादी कविता की उपेक्षा और भर्त्सना कम नहीं हुई। वह उसी का वर्णन किसी अन्य की उक्ति के रूप में करते हुए कहता है कि तेरी रचनाओं के कारण तेरे ऊपर साहित्य, शास्त्र और काव्य के मर्मज्ञ) विद्वान् (तिरस्कार की हँसी) हँसते हैं। (हे) गीत (रचने वाले कवि रूपी) पक्षी, (तेरे काव्य की अवहेलना करते हुए) सभी पण्डित (साहित्य के विद्वान्) तेरा उपहास करते हैं। (वे कहते हैं कि संसार के जीवन एवं तत्सम्बन्धी विषयों से हट कर उनसे) दूर छाया (वा अन्धकार से पूर्ण अथवा सप्तपर्ण वा छतिवन नाम के) वृक्षों के वन में (तेरा) निवास है। (तू दूरवर्ती घने वृक्षों से अँधेरे एवं प्रकाशहीन वन में रहता है; तेरी छायावाद की कविता साहित्य के प्रतिष्ठित आदर्शों एवं जगत् के मानव के वास्तविक जीवन से कुछ भी संबंध नहीं रखती और उसका रूप अस्पष्ट है, जिससे उसका आशय टटोल-टटोल कर काम चलाना पड़ता है। तेरे) पास विश्व (के प्राणियों) के सुख-दुःख भी नहीं। (तुझे संसार के हर्ष-विषाद से भी कोई काम नहीं। तू तो अपने ही आनन्द और रुदन में मग्न, जगत् से उदासीन जैसा रहता है। तेरी कविता में मानव के जीवन के सुख-दुःख का वर्णन नहीं, उसमें तो तेरा ही हँसना और रोना मिलता है।) अरे (पक्षी, सुन !) जगत् (रूपी) आकाश कठिनाई से पार हो सकता है (इसका पार पाना सहज नहीं। तू जो ऊँची-ऊँची उड़ानें लेता है

उनसे यह न समझ कि इस अनन्त आकाश का ओर-छोर छू आयगा। तू 'अनन्त के गीत' गाता है इससे यह न सोचना कि तू अनन्त का भेद जान गया।) अरे, (पक्षी रूपी कवि) छाया से घिरा प्रकाश अभेद्य (है। छाया के भीतर से प्रकाश को खोज निकालना बहुत ही कठिन है। छायावाद के अन्तर्गत भाव और अर्थ का स्पष्टीकरण सहज नहीं अथवा तेरी छायावाद की कविता के भीतर सार्थक एवं सुन्दर भावों का समावेश असाध्य है। अतएव हे) वन के पक्षी (रूपी कवि, तू अपने) परों की (यह) अनन्त आकाश की उड़ान (और एकान्त) जंगल के घोंसले का गाना छोड़ (दे। अर्थात् तू वन में रहने वाले अशिक्षित, असभ्य जैसे व्यक्ति के समान है। तुझे नागरिक के जीवन का बोध नहीं। तू जो 'अनन्त की ओर' के असार गीत रचता है वे स्पष्ट नहीं। उनका मानव-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। वे केवल तेरे व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध हैं। अतएव उनकी रचना करना बन्द कर।)

(ख) (उपर्युक्त 'तेरा कैसा गान' गीत में कही गयी बातों का उत्तर देते हुए कवि-विहग कहता है कि) मेरा गान कैसा है? (मुझसे यह) न पूछो कि तेरा गान कैसा है। (ऐसा मैं क्यों कहता हूँ। सुनो।) आज प्रत्येक वन में चैत मास (अर्थात् चैत का वसन्त) छाया हुआ है। (इससे मुग्धा युवती की सी मुग्ध (अपने यौवन के उभार का अनुभव स्वतः न कर सकने वाली) कलियों में (उनके भीतर से उभरने वाली) सुगन्ध की उसास (उठ रही है। वसन्त के आगमन के कारण वन की

प्रत्येक कली में समायी हुई सुगन्ध आकुलता के साथ फूट कर निकल रही है। घास के) प्रत्येक तिनके के ऊपर आनन्द लोट रहा (है। प्रत्येक तिनका मन्द पवन के झोंकों से झूम रहा है। वसन्त के आने पर तिनके-तिनके में मस्ती छा गयी है। जान पड़ता है जैसे प्रत्येक तृण के ऊपर हर्ष लोट रहा है—तभी वह हर्षातिरेक से झूमता है।) पवन पुलक से आकुल हो कर (अत्यधिक हर्ष से विह्वल हो कर मदमाते व्यक्ति के सदृश धीरे-धीरे झूमता-सा) चलता (है।) आकाश में सुनहला सवेरा फूटता (वा निकल रहा है। ऐसे वसन्त में जब वन में सर्वत्र उमङ्ग, मस्ती और अपने को पूर्व-दशा में रोक सकने की क्षमता नहीं, सभी खिल रहे हैं तब) आज मेरे प्राणों (अन्तस्तल) में गान (उठ रहा है। आज मेरे भीतर छिपा हुआ गान भी व्यक्त हो रहा है। यह मेरा आन्तरिक गान है, ऊपरी नहीं। इसी से यह भी अन्य पदार्थों के उल्लास के सदृश स्वाभाविक रूप से ही मुखरित है।)

[तात्पर्य—कवि अपने आलोचकों से कहता है कि तुम मेरी कविता के विषय में कुछ न पूछो। कारण, आज मेरा मन मेरे बस में नहीं। देखो, आज कानन में वसन्तागम के सदृश काव्य-जगत् में नव-युग आया है। इस नव-चेतना के समय नये कवियों के मन मोहित हो गये हैं। उनके भीतर निहित भाव प्रकट हो रहे हैं। छोटे से छोटा समझा जानेवाला कवि भी आज आनन्द से विह्वल हो रहा है। वातावरण में आनन्द ही आनन्द व्याप्त है। काव्य-आकाश में नव-जागरण की मनोहर वेला आ रही है। इसी से मेरे जीवन में भी उमङ्ग है। वही मन के भावों को

उद्वेलित करती है। इसी से आज मैं कविता करता हूँ। अतः तुम मेरे गीतों की रचना का प्रयोजन मत पूछो। वे तो नवयुग की चेतना के प्रतीक हैं। मैं काव्य-रचना करने में तल्लीन हूँ। यदि मुझे आज कुछ चेत होता तो मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देता।]

उपरिलिखित (क) के गीतों में कवि को अपनी कविता से विरत होने की शिक्षा दी गयी है। उससे कहा गया है कि तेरी कविता में जगत् के सुख-दुःख से हट कर 'अनन्त की ओर' ले जाने वाली असार बातें हैं। उन्हें छोड़ दे। इसके उत्तर में वह कहता है कि मेरी कविता सोच-सोच कर गढ़ी जाने वाली रचना नहीं। वह तो हृदय से अपने आप निकल रही है। मैं उसी में मग्न हूँ। अतएव) मुझे (इस समय) अपने अस्तित्व का (ही) बोध नहीं। (मैं काव्य-रचना में तन्मय हूँ और इसी से मुझे) संसार के (अन्य प्राणियों) का ध्यान (भी) नहीं रहा। (मेरा मन अलग रहता और मैं केवल बुद्धि से सोच-सोच कर कविता लिखता तो दूसरों का ध्यान रख पाता। वस्तु-स्थिति तो यह है कि मैं अपनी कविता में एकचित्त हूँ। इससे मैं जगत् के विषय में सोच ही कैसे सकता हूँ? जो उसके सम्बन्ध की कविता लिखूँ ?। परन्तु तुम जो कहते हो कि तेरी कविता का संसार से लगाव ही नहीं, वह ठीक नहीं। कारण यह कि) मेरे (रचे गीतों के गुञ्जार के आरोही और अवरोही) स्वर (के उठने और गिरने) के साथ-साथ (उसमें तादात्म्य हो जाने से वन के) वृक्षों के पत्ते वैसे ही कम्पित होते (लहराते हैं) जैसे विश्व

(के प्राणियों) की हर्ष के समय खड़ी हुई रोमावली (झूमती है। अर्थात् मेरे स्वर जगत् के प्राणियों को प्रभावित करके उनका हृदय आनन्द से भर देते हैं।) मेरे गीत नित्य साँझ-सबेरे उठ (हृदय-स्थल से निकल) कर अनजाने 'अनन्त (लोक की ओर' उठ कर उस) को पार कर (जाते हैं। अर्थात् मैं नित्य प्रति सन्ध्या और प्रातः के शान्त वातावरण में एकाग्र हो कर गीतों की रचना करता हूँ। उनमें अब तक के गृहीत भौतिक विषयों से परे अज्ञात एवं असीम आध्यात्मिक तत्त्वों का सङ्केत रहता है। मेरे उन) गीतों में ही मेरे प्राणों का अस्तित्व (है और इसी से विश्व के) समस्त (प्राणियों के) जीवन में मेरे गान (समाये हैं।, अभिप्राय यह है कि मैं आत्म-विस्मृत हो अपनी कविता में पूर्णतया समा गया हूँ। तभी मेरे प्राणों को अभिव्यक्त करने वाली मेरी कविता विश्व भर के प्राणियों के प्राणों में स्पन्दित हो कर अपनी व्यापकता प्रमाणित कर रही है। हे आलोचक, तुम कहते हो कि तेरी कविता में 'न जग के हास-अश्रु ही पास' किन्तु वस्तु-स्थिति तो यह है कि 'अखिल प्राणों में मेरे गान' गूँज रहे हैं। यदि मेरी कविता एकान्त साधना की वस्तु होती तो आज हिन्दी के काव्य-जगत् के सभी कवियों की वाणी से चतुर्दिक् वही क्यों प्रतिध्वनित होती ?)

दोष—'न पूछो मेरा कैसा गान !'—यह अँगरेजी के 'इनडायरेक्ट' वाक्य के अन्धानुकरण पर बना, हिन्दी-प्रयोग के विरुद्ध, वाक्य है। यद्यपि अनुकरण करने वाले और लोग भी ऐसे वाक्य लिखते हैं फिर भी हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध ऐसी रचना सदोष ही कही जायगी।

अलङ्कार—(क) के अन्तर्गत दोनों गीतों में रूपकातिशयोक्ति।

[४५] चींटियों की-सी काली-पाँति

शब्दार्थ—**अग-जग** = न चलने वाला और चलने वाला अर्थात् संसार के चर-अचर सभी प्राणी और पदार्थ, सम्पूर्ण संसार। **उमह** = उमड़ कर, (**उमड़ना** = द्रव वस्तु का बहुतायत के कारण ऊपर उठना)। **अतल** = वह जिसकी गहराई का ज्ञान न हो, अन्तस्तल। **उदार** = संकीर्णता से रहित। **परस** = स्पर्श। **लयमान** = विलीन, निमग्न, आत्मसात्।

सङ्केत—इस गीत में अपने आत्म-चेतन को, अपनी कविता के प्रेरक को सम्बोधित कर के कवि अपनी अजस्र प्रवाहमयी कविता की व्यापकता का उल्लेख करता है। वह यह भी बतलाता है कि उसी दिव्य शक्ति से मेरी कविता ओतप्रोत है।

पूर्ववर्ती कुछ गीतों में कवि ने 'प्राण' के रूप में नारी रूपिणी प्रिया वा शक्ति को सम्बोधित कर के कहीं जो कुछ कहा है, उससे उसकी किसी पार्थिव प्रेयसी का भ्रम हो सकता है और बहुधा ऐसा किया भी जाता है। कदाचित् इसी भ्रम का निवारण करने के लिए यहाँ 'तुम्हारे' और 'प्राण' के अर्थ को स्पष्ट कर देने के लिए किसी को 'बन्धु' के द्वारा सम्बोधित किया गया है। 'एकक्रियं भवेन्मित्रम्, समभावो सखा भवेत्। अत्यागसहनो बन्धुः सर्वानुगतं सुहृत्'—में बन्धु का बहुत ही सुन्दर लक्षण बतलाया गया है। बन्धु वह है जो त्याग न सह सके, अलग न रह सके। अतएव यहाँ कवि ने बन्धु और प्राण का अभिप्राय-पूर्वक बहुत ही सुन्दर परिकर अलङ्कार के रूप में प्रयोग किया है। उस आत्म-चेतन से कवि का अलग किया जा सकना सम्भव नहीं। इसी से वह उसका बन्धु और प्राण है।

व्याख्या—(कवि अपनी कविता के प्रेरक से कहता है कि हे) बन्धु, चींटियों की (निरन्तर, अविच्छिन्न एवं गतिशील) काली पंक्ति के सदृश (अविरल रूप से तथा अविरत प्रकट होने वाले) मेरे गीत रात (और) प्रातः (अर्थात् अहर्निशि वा सदैव) चलते-फिरते (निर्मित हो कर, तथा साहित्य-संसार में

व्याप्त हो कर) चर और अचर (सम्पूर्ण) विश्व का कोना छूने (अखिल जगत् के विषयों को अपना कर उनकी अभिव्यक्ति करने) के लिए बहुत प्रकार से फैलते जाते हैं। (जैसे असंख्य चींटियों की काली अविरल पाँत रात-दिन चलती रहती है, वह नाना प्रकार के आकार बनाती हुई गमन करती है और बहुत दूर-दूर तक फैल जाती है; वैसे ही मेरे अगणित गीत भी हैं। उनकी अवतारणा मसि के द्वारा होती है। अतः वे रंग में चींटियों की काली पंक्ति के सदृश हैं। उनकी रचना समय के बन्धन में नहीं, रात-दिन सदैव होती रहती है। उनमें चेतन और अचेतन जगत् के समस्त जीवों और पदार्थों का समावेश है, कोई भी छूटा नहीं। वे नाना प्रकार के छन्दों में रचे जाते हैं। साथ ही साहित्य-क्षेत्र में सर्वत्र प्रचलित हैं, लोक-प्रिय हैं।)

(अब कवि दूसरी उपमा का प्रयोग करके कहता है कि विचार, भाव, आदर्श आदि की सङ्कुचित मान्यताओं से मुक्त मेरे) उदार (अपरिमित) गीत (अपार जल-राशि के सदृश बहुत ही गहरे स्रोत अर्थात् सात पातालों में पहले) अतल (अर्थात् अन्तस्तल) से (निरन्तर) उठ-उठ कर (वा उद्भूत हो हो कर एवं फिर उसी अन्तस्तल में बार-बार) निमज्जित हो हो कर (अर्थात् अपना अलग अस्तित्व अन्तस्तल से एकाकार करते हुए जल की) चञ्चल लहरों के सदृश विराम (और) प्रवाह (छन्द की यति और गति के निर्वाह की चिन्ता) से रहित (हो) उमड़, बह, (तथा) असीम और अछोर फैल कर बाँध (सभी प्रकार के नियमों का नियन्त्रण) तोड़ रहे हैं। (अभिप्राय—जिसका स्रोत

बहुत ही गहरा होता है और जो अपने स्थान पर अधिक काल तक सञ्चित होती रहती है, ऐसी अनन्त जल की राशि जब फूट निकलती है तब उसकी रोक-थाम असम्भव हो जाती है। उसकी चञ्चल लहरें निर्धारित पथ से ही नहीं बह सकतीं। वे तो अविराम रूप से जिधर चाहें उधर निकल जाती हैं। उनकी गति का भी ठिकाना नहीं रहता। वे बराबर उमड़ती, और बहती हुई बहुत दूर-दूर तक फैल जाती हैं। उनके तटों का पता भी नहीं रहता। उनके प्रवाह, विस्तार और वेग को रोकने के लिए बनाये गये बाँध टिक नहीं पाते, सभी टूट जाते हैं। यही दशा कवि के गीतों की है। उनका उद्गम उसका बहुत ही गम्भीर अन्तस्तल है। वे उसी अपने अभ्यन्तर में पूर्णतया घुलमिल गये हैं। वे सब प्रकार की सङ्कुचित प्रवृत्तियों से परे अत्यन्त ही उदार हैं। मन में बराबर उमड़ते हैं। उनका प्रवाह मन के भीतर रोके नहीं रुकता। वे अपनी सृष्टि के लिए कवि को विवश कर देते हैं। फिर क्या? वे असंख्य गीत साहित्य-जगत् में सर्वत्र फैल जाते हैं। उनकी व्यापकता की सीमा नहीं रह जाती। इन गीतों में कवि को न तो यति-गति सम्बन्धी छन्दःशास्त्र के मान्य नियमों के पालन करने का ध्यान रहता है और न साहित्य वा समाज की किसी मान्यता के अनुकूल परम्परा के सीमित क्षेत्र के भीतर बँधे रह कर तदनुसार पिष्ट-पेष्टित बातों के कहने का ध्यान रहता है। वे प्राचीनता के सभी बन्धनों से सर्वथा मुक्त और स्वच्छन्द रह कर कवि के अन्तर से निकल कर अबाध गति से सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं।)

(चींटियों की निरन्तर पंक्ति के समान अटूट और जल की अजस्र धारा के समान बन्धन-मुक्त गीतों के प्रसार के लिए अन्य रमणीय उपमा उपस्थित करते हुए कवि आगे कहता है कि हे मेरे आत्मचेतन,) तुम्हारे कोमल चरणों का स्पर्श करके (उनके प्रभाव को ग्रहण करते हुए उमङ्ग और आनन्द से लहलहा कर मेरी) सुकुमार पुलकित रोमावली का रूप धारण कर (साहित्य के उद्यान में) चारों ओर दूब की तरह अपने छोटे-छोटे चरणों (पदों वा छन्द के चरणों) का सञ्चरण करते हुए (मेरे ये) अनन्त गीत (सर्वत्र) फैल गये । (जैसे शुष्क उपवन में हरी दूब फूट निकलती है। बहुत ही छोटी होते हुए भी वह सब प्रकार की विघ्नबाधाओं के बीच भी अपना सिर ऊँचा किये हुए धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। फिर एक दिन समस्त उपवन में छा जाती है। इस प्रकार मानो वह उस उपवन के हर्ष को सूचित करने वाली पुलक है, उपवन के रोमाञ्च को प्रकट करती है। ऐसे ही, छन्द के छोटे-छोटे चरणों के गीत पहले तो धीरे-धीरे बढ़ते रहे। अब वे अगणित हो कर सर्वत्र फैल गये हैं। इन गीतों में कवि के आत्म-चेतन का संस्पर्श है। अतः ये कवि की उत्फुल्लता सूचक पुलकावली के प्रतीक हैं। इनमें जीवन-दायिनी अदृश्य सत्ता की प्रेरणा है। इससे ये उल्लास से भरे हैं।)

[प्राचीन कवियों ने माना है कि सुन्दरी नारी के चरणों के स्पर्श से अशोक मञ्जरित होता है एवं उसके छूने से प्रियंगु खिल उठती है। इस कवि ने भी इन कवि-समयों को 'मधुवन' शीर्षक कविता के खण्ड [२] के आठवें छन्द में अभिव्यक्त किया है।

इसी प्रकार उसने अपने चेतना-प्रद के काल्पनिक चरणों के स्पर्श का अपने अभ्यन्तर में अनुभव किया। उससे उसे रोमाञ्च हुआ। जैसे अशोक और प्रियंगु का रोमाञ्च उनके फूलों में प्रकट होता है वैसे ही कवि का रोमाञ्च उसके गीतों में प्रत्यक्ष हुआ।]

(अब उन गीतों का सौन्दर्य नये उपमान की अवतारणा के द्वारा व्यक्त करते हुए कवि कहता है कि हे आत्म-चेतन, तुमने अपने चरणों से छू कर मेरे गीतों को दूब के सदृश पुलकित और व्याप्त करके ही नहीं छोड़ा अपितु उनमें ज्योति भी भर दी। कैसे ? सुनो) तुम्हारे एक-एक स्पर्श के साथ (एक-एक) ज्योति (के रूप) में (परिणत हो कर अर्थात् तुमने एक बार स्पर्श किया तो एक ज्योतिमान प्रकट हुआ, दूसरी बार किया तो दूसरा निकला। इसी प्रकार जितनी बार स्पर्श किया उतने ही ज्योतिपुञ्ज प्रकट हुए। अन्त में असंख्य ज्योतिष्कों ने प्रत्यक्ष हो तथा) खिल कर निर्मल (प्रकाश के द्वारा अब तक के) अपरिचित घने अन्धकार (अर्थात् तमसावृत आकाश रूपी काव्य के) जगत् में (मेरे) गान तारों के सदृश चमकते हैं। (आशय—तुम्हारे स्पर्श से मेरे अन्तःकरण में दिव्य प्रकाश का उदय हुआ। इस प्रकाश से परिपूर्ण हो कर छाया-लोक—छायावाद—के गीत अन्धकार से आच्छन्न काव्य-संसार में अपनी प्रभा उसी प्रकार विकीर्ण करने लगे जिस प्रकार तमतोम से ढके गगन पर टिम-टिमाते तारे अपना प्रकाश-पुञ्ज व्याप्त कर देते हैं।)

(अब बहुत ही मनोरम रूपक का सृजन करके कवि कहता है कि हे मेरे) प्राण (रूपी एवं बन्धु स्वरूप चेतन,) जहाँ

(भी) संसार में (तुम्हारे) पवित्र चरण (पड़े और उस अकिञ्चन धूल के सदृश तुच्छ पदार्थ को तत्काल ही सुन्दर रूप में परिवर्तित करके) सुशोभित फूलों (के रूप) में खिल उठे वहीं (मेरे) गीत (मेरे अभ्यन्तर के) उल्लास के आँसू बन कर (उन फूलों की पंखुड़ियों के ऊपर पड़ी) ओस (की बूँदों के रूप) में चमकते (हैं। अभिप्राय यह है कि जगत् रूपी वाटिका में तुमने पद-क्षेप किया। तुम्हारे चरणों के छूते ही धूल सुन्दर फूल के रूप में खिल उठी। तुमने सामान्य तुच्छ धूल को मनोहर फूल बना दिया। उन फूलों के विकसित सौंदर्य को देख कर—प्रकृति के पदार्थों में तुम्हारी ही स्पर्श-जन्य मनोहरता को सत्य मान कर मेरा मन उल्लास से भर गया। फल-स्वरूप मेरी आँखों में आँसू छलछला आये। वही आनन्दाश्रु जैसे ओस के कण का रूप ग्रहण कर उन खिले हुए फूलों की पंखुड़ियों के ऊपर झलमल-झलमल कर रहे हैं। अर्थात् तुम्हारे द्वारा सृष्ट आधार के ऊपर मेरे गानों का प्रकाश काव्य-जगत् में चमचमा रहा है।)

(अन्त में कवि अपने प्रेरक से अभिन्न हो कर अपने गीतों में उसी की सत्ता की घोषणा करते हुए कहता है कि हे मेरे) बन्धु, (मेरे) प्राण (रूपी पक्षी,) तुम गीत रूपी (अपने) पर फैला कर मेरे स्वरों (शब्दों) में समा गये—मिल कर उनके साथ एक हो गये। (और फिर मेरे और तुम्हारे अभेदत्व के कारण मेरे प्राणों से पूर्ण मेरे गीतों के स्वर) तुमसे (मिल कर एकाकार हो गये—तुमसे अभिन्न हुए, उन्होंने अपना अस्तित्व

तुम्हारे भीतर विलीन करके तुम्हारा ही रूप ग्रहण कर लिया। इस प्रकार मेरे) प्राणों में तुम (हो और) तुम में (मेरे) प्राण बसते हैं। अर्थात् मेरा तुम्हारा भेद वा द्वैत मिट गया। हम दोनों) अद्वैत हो गये। (यही बात यों भी कही जा सकती है कि मेरे गीतों में मेरे प्राण अन्तर्हित हैं। मेरे प्राण और तुम अलग-अलग नहीं, प्रत्युत एक-रूप हैं। अतः मेरे गीतों में जो मेरा रूप दिखलायी पड़ता है वह वास्तव में तुम्हारा ही रूप है। अर्थात् मेरे गीतों में तुम्हारी ही छवि दृष्टिगोचर होती है।)

[इस प्रकार कवि ने अपने गीतों में यत्र-तत्र भौतिक सौन्दर्य और वासना के दिखलायी पड़ने वाले रूप को वास्तव में उसको अन्तश्चेतना प्रदान करने वाले का प्रतिरूप कहा है। अतएव उनमें सांसारिकता न देख कर आध्यात्मिकता-परक भावों, विचारों आदि को ग्रहण करना चाहिये। परन्तु अर्थ करते समय जहाँ अध्यात्म की झलक भी न दिखलायी पड़े, कोरी पार्थिवता हो वहाँ भी तोड़-मरोड़ कर ऐसा अर्थ मान लीजिये कि कवि ऊर्ध्व-चेतना को व्यक्त कर रहा है। कितना सरल है कवि का कर्म और कितना कठिन है व्याख्याकार का कर्तव्य! किन्तु इस व्याख्या में जहाँ कहीं बलपूर्वक आध्यात्मिक अर्थ नहीं किया गया वहाँ व्याख्याकार को अपनी असमर्थता स्वीकार करने में सङ्कोच है। कारण, रीतिकाल के कवि तो ऐसी द्व्यर्थक कविता में सावधानी से ऐसे शब्द का निरन्तर प्रयोग किया करते थे जिसके बराबर दो अर्थ ठीक ढंग से होते हैं, किन्तु इस कवि ने प्रायः ऐसा नहीं किया। जहाँ शब्द सीधी, खुली और स्पष्ट

भौतिक बातें कहता है वहाँ भी कैसे अध्यात्म बैठाया जाय? से कहा गया है कि व्याख्याकार का कर्म दुस्तर है।]

अलङ्कार—पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे छन्दों में रूपक से उपमा है। पांचवें छठे में रूपक है।

———